संदर्भ

शिक्षा की द्वैमासिक पत्रिका
अंक-42, जून-जुलाई 2002

संपादन एवं वितरण:
एकलव्य, कोठी बाजार
होशंगाबाद – 461 001
फोन: 07574 – 53518
ई-मेल: eklavyamp@vsnl.com

एक प्रति: 15 रुपए
वार्षिक सदस्यता (6 अंक) : 75 रुपए
आजीवन सदस्यता: व्यक्तिगत 1000 रुपए
संस्थागत 2000 रुपए
(ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं)

मुखपृष्ठ: 20 करोड़ साल पहले दुनिया में शायद केवल एक महा-महाद्वीप ही था जिसे पेंजिया के नाम से जाना जाता है। सबसे नीचे की ओर ऑस्ट्रेलिया अंटार्कटिका से जुड़ा हुआ था, और अफ्रीका व अंटार्कटिका के बीच भारत फंसा हुआ था। ऐसा अनुमान है कि लगभग 13.5 करोड़ साल तक आते-आते पेंजिया में भूमध्य रेखा से कुछ ऊपर पूर्व-पश्चिम दिशा में दरार पड़ गई। उत्तरी अमरीका यूरोप से अलग हो रहा था जिससे उनके बीच एक छोटे से समुद्र का निर्माण हुआ। दक्षिण अमरीका अफ्रीका से टूटकर अलग हो रहा था। भारत उत्तर की ओर दौड़ लगा रहा था, तो ऑस्ट्रेलिया अभी भी अंटार्कटिका से जुड़ा हुआ था। (चित्र 'मार्वेल्स एंड मिस्टरीज़ ऑफ द वर्ल्ड एराउंड अस' से)

पीछे का आवरण: आज की दुनिया। अमरीका के पश्चिम की ओर सरकते जाने से विशाल अटलांटिक महासागर बन गया। अफ्रीका उत्तर की ओर सरक गया, भारत एशिया के दक्षिणी हिस्से से जा टकराया। ऑस्ट्रेलिया अंटार्कटिका से टूटकर आज की स्थिति में जा पहुंचा। अगर यह प्रक्रिया इसी तरह जारी रही तो आज से 5 करोड़ साल बाद दक्षिण अटलांटिक महासागर और विशाल हो जाएगा, प्रशांत महासागर सिकुड़ जाएगा, ऑस्ट्रेलिया ऊपर की ओर खिसककर दक्षिण -पूर्व एशिया को छूने लगेगा।

चित्र निम्न किताबों से: ***एटलस ऑफ द यूनिवर्स:*** *पेट्रिक मूर; प्रकाशक: रीड इंटरनेशनल बुक्स लिमिटेड।* ***साइमन एंड शुस्टर्स गाइड टू फॉसिल्स:*** *पाओलो अरदुनी, जिआर्जियो तेरुज़ी; प्रकाशक: साइमन एंड शुस्टर्स।* ***फिज़िकल जिओलॉजी:*** *जुडसन, कॉफमेन, लीट; प्रकाशक: प्रेंटीस हॉल, न्यूजर्सी।* ***बायोलॉजिकल साइंस:*** *विलियम टी. कीटन, जेम्स एल. गूल्ड; प्रकाशक: डब्लू. डब्लू. नॉर्टन एंड कम्पनी, न्यूयॉर्क।* ***बायोलॉजी द साइंस ऑफ लाइफ:*** *पीटर एफ. येंश; प्रकाशक: हॉगटन मिफिलिन कम्पनी, बोस्टन।* ***मार्वेल्स एंड मिस्टरीज़ ऑफ द वर्ल्ड एराउंड अस:*** *प्रकाशक: रीडर्स डायजेस्ट एसोसिएशन लिमिटेड।*

सहयोग और बंधन से बनते हैं ठोस रिश्ते

हीरे की खूबसूरती और ठोसपन बंधनों का ही नतीजा है।

किसी पत्रिका की खूबसूरती और विश्वसनीयता भी पाठकों के साथ बन रहे रिश्तों से तय होती है।

आप संदर्भ के साथ अपने रिश्ते को और मज़बूत बना सकते हैं
संदर्भ सदस्यता की दरें इस प्रकार हैं:

सदस्यता शुल्क	एक साल	दो साल	तीन साल
व्यक्तिगत/स्कूल	75 रुपए	140 रुपए	200 रुपए
अन्य संस्थाएं	150 रुपए	280 रुपए	350 रुपए

आजीवन सदस्यता	शुल्क
व्यक्तिगत	1000 रुपए
संस्थागत	2000 रुपए

संदर्भ का सदस्यता शुल्क आप मनीऑर्डर या बैंक ड्राफ्ट से भेज सकते हैं।
संपर्क करें:

एकलव्य
कोठी बाज़ार, होशंगाबाद
पिन: 461001
फोन: 07574-53518 ई मेल: eklavyah@yahoo.com
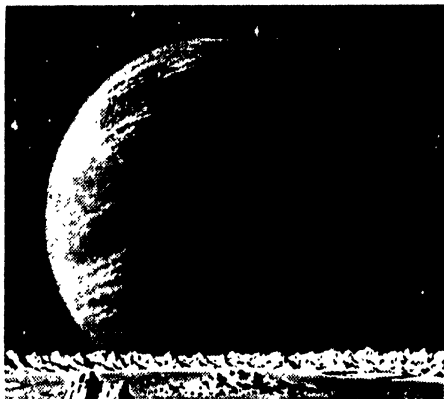
वैज्ञानिक विधि और नए सिद्धांतों के पनपने के पीछे एक आम समझ है कि जैसे-जैसे नई जानकारियां हासिल होती हैं, पुराने सिद्धांतों पर सवाल खड़े होने लगते हैं, तो अपने आप नए सिद्धांतों की राह बन जाती है। परन्तु इस लेख के माध्यम से स्टीफन जे. गूल्ड ने समझाने की कोशिश की है कि दरअसल नए वैज्ञानिक सिद्धांतों की डगर ऐसी सीधी और सरल नहीं होती। अपनी बात समझाने के लिए उन्होंने उदाहरण लिया है महाद्वीपीय खिसकाव के सिद्धांत का। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में कई सारे ऐसे तथ्य इकट्ठे हो गए थे जिससे महाद्वीपों की स्थिरता पर प्रश्नचिन्ह लग गए थे। परन्तु इस सब के बावजूद अगले चालीस साल तक इस नए सिद्धांत को नकारा जाता रहा क्योंकि ज़रूरत थी परिकल्पना की एक ऐसी छलांग की जो महाद्वीपों के खिसकने का एक संभव और सहज मॉडल प्रस्तुत करती हो।

सभी प्रकार की वनस्पतियों को नाइट्रोजन युक्त यौगिकों की ज़रूरत होती है। वायुमंडल में नाइट्रोजन काफी तादाद में होने के बावजूद पौधे इसे जड़ों के मार्फत ही ग्रहण कर पाते हैं। इन यौगिकों की पूर्ति एक हद तक तो मिट्टी करती है लेकिन इसके बाद रासायनिक उर्वरकों का भरपूर उपयोग ही एक मात्र विकल्प सूझता है। पिछले कुछ वर्षों में पौधों की नाइट्रोजन संबंधी ज़रूरतों की पूर्ति के लिए नए विकल्पों पर शोध जारी है जिससे आने वाले दौर में कृषि के क्षेत्र में कई परिवर्तन आ सकते हैं।

शैक्षिक संदर्भ

अंक 42 जून-जुलाई 2002

इस अंक में
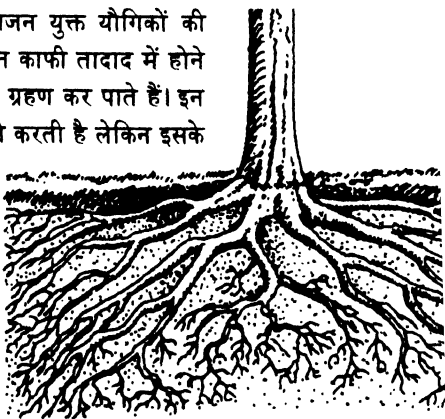
वो घर यानी अस्त-व्यस्तता की पराकाष्ठा। टॉर्च है तो बैटरी नहीं, ताश के सारे बावन पत्ते एक साथ मिल जाएं ऐसा सपने में भी असंभव। अपने परिजनों की आदतों से दुखी बच्चे – पीटर– के हाथ लगी एक जादुई क्रीम जो मलते ही शरीर का वह हिस्सा गायब हो जाता था।

बेतहाशा चिढ़ व हताशा के क्षणों में उसने वैनिशिंग क्रीम के ज़रिए अपनी मां, पिता और प्यारी बहन को अपने संसार से हटा दिया। लेकिन यह भी सच था कि वह अपने परिजनों को दिलो-जान से चाहता था। क्या पीटर उन्हें दुबारा पा सका? वैनिशिंग क्रीम के बहाने इवान मेक इयान की बाल हृदय को उकेरने वाली एक फेंटेंसी है यह।

आपने लिखा

संदर्भ जैसी जागरूक व विज्ञान से परिपूर्ण पत्रिका समाज में आज बहुत कम संख्या में छपती हैं। क्या इसका देरी से प्रकाशित होना हमारे और हमारे समाज के लिए खतरनाक नहीं है? आज जबकि अंधविश्वास और धर्म को देश के आम नागरिक के मन में ठूंस-ठूंस कर भरने के लिए भी सांप्रदायिक ताकतें विज्ञान का पूरा इस्तेमाल कर रही हैं। ऐसे में संदर्भ का नियत समय पर प्रकाशित होना बेहद आवश्यक है।

मैंने संदर्भ के अंक 39 व 40 अच्छी तरह पढ़े। सभी लेख बेहद पसन्द आए। पत्रिका रोचक और ज्ञानवर्धक है। इसे हिन्दुस्तान के कोने-कोने में पहुंचाने के लिए हमें हर संभव प्रयास करने चाहिए। 'अच्छे सवाल कैसे करें', 'विज्ञान, समाज....और शैक्षिक नवाचार', 'इतिहास का अध्यापन', 'बच्चे स्कूल से जी क्यों चुराते हैं', 'कौओं की ज़िन्दगी' और 'पनचक्की का उद्गम' बहुत ज़्यादा पसन्द आए और उन्हें पढ़कर ऐसा लगा कि यह पत्रिका अगर मासिक हो तो बेहद अच्छा रहे।

दिलशेर सिंह
मंडी कलां, ज़िला जिंद, हरियाणा

समय पाटने की जद्दो-जहद करता संदर्भ का 41वां अंक लगभग छः माह बाद मिला। 'आपने लिखा' में पाठकों की राय पढ़कर खुशी हुई कि इसके पाठक बढ़ रहे हैं परन्तु संदर्भ का प्रकाशन समय पर न होने के कारण यह नए पाठकों में विश्वास जमा पाने में बाधक है।

'शिक्षक कार्यशाला' में कैरन हेडॉक के प्रयास एवं विचार अत्यंत पसंद आए। इस वर्ष हमारे ज़िले में डी.पी.ई.पी. द्वारा प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों के लिए 'प्रेरण प्रशिक्षण एवं अभिनवन कार्यक्रम' आयोजित किए जा रहे हैं। परन्तु दु:ख होता है कि इससे पहले प्रशिक्षणों के अभाव से शिक्षकों को भाषा, विज्ञान, गणित, भूगोल, सामाजिक विज्ञान की छोटी-छोटी लेकिन महत्वपूर्ण बातों का उपयुक्त ज्ञान नहीं था या यूं कहें कि उन तथ्यों के बारे में उनको सोचने-जानने एवं समझने के लिए कभी प्रेरित ही नहीं किया गया था। अधिकांश अध्यापक रटी-रटाई बातें विद्यार्थियों को बता देते थे। इन तथ्यों के आधार को जानने का स्रोत उनके पास नहीं था।

राजस्थान में इस्तेमाल की जाने वाली पाठ्य पुस्तकों में तकनीकी शब्दों को सीधे ही छाप दिया जाता है, उनकी परिभाषाएं बहुत कम छापी जाती हैं। जैसे ध्रुव, अक्षांश, देशांतर, टुंड्रा, प्रायद्वीप, अंतरीप, प्रवाल भित्ती, महाद्वीप, खाड़ी, शंकु, नदी ... आदि शब्दों की परिभाषाएं पाठ्य पुस्तकों में नहीं पाई जातीं। व्याकरण संबंधी त्रुटियां भी हैं।

खैर, एक बार फिर संदर्भ के लेखों पर आता हूं। 'ज्वार और भाटा' लेख काफी नवीनता लिए हुए था। लेखक को धन्यवाद। पिछले कुछ समय से मैं एक प्रश्न का उत्तर खोज रहा हूं परन्तु अभी

तक इसका संतोषजनक जवाब नहीं मिल पा रहा है। मेरा सवाल है – चंद्र ग्रहण और अमावस्या में क्या अंतर है? कृपया इसे चित्रों द्वारा, पूर्ण व्याख्या करके समझाएं। चंद्रमा की सभी स्थितियों को भी समझाएं।

'कितना विज्ञान जानना ज़रूरी' लेख अत्यंत विचारोत्तेजक लगा। हमारे विद्यालय में एक कटु सत्य तो यह है कि प्रायः आठवीं कक्षा तक तो बच्चों को यह भी पता नहीं होता या बताया नहीं जाता कि विज्ञान पढ़ना क्यो ज़रूरी है। कितने की बात तो बाद की है। ऐसा भी प्रायः देखने में आया है कि कुछ अध्यापक जिनकी विज्ञान में कतई रुचि नहीं होती फिर भी वे विज्ञान इसलिए पढ़ाते हैं कि उन्हें अंग्रेज़ी, गणित, संस्कृत या व्याकरण से भय लगता है। और वे 'तू पढ़ विधि' से पढ़ाए जा सकने वाले विषय विज्ञान या पर्यावरण अध्ययन पढ़ाना ज़्यादा पसंद करते हैं। जहां ऐसा शिक्षण हो वहां बच्चे प्रश्न भी नहीं करते, अतः अध्यापक बिना माथा पच्ची किए इस दुरुह विषय को आसानी से पढ़ा देते हैं।

मुझे याद है कि जब मैं पांचवीं-छठवीं में पढ़ता था तब बताया गया था कि पौधे कार्बन डाइ ऑक्साइड लेते हैं और ऑक्सीजन छोड़ते हैं। यह बात मेरे समय के तथा इससे पूर्व के विद्यार्थियों के दिमाग में आज भी जमी हुई है। वह तो संदर्भ पत्रिका के एक लेख को पढ़कर मुझे समझ में आया कि मेरा ज्ञान कितना अधूरा था।

आज अध्यापकों के सामने कुछ मजबूरियां भी हैं। पाठ्यक्रम ज़्यादा होता है और समय कम, अतः अगर विज्ञान के सभी पाठों को प्रदर्शन या प्रयोग विधि से पढ़ाएं तो पाठ्यक्रम पूरा नहीं हो पाता जो कि ज़रूरी होता है।

'गणित की सामान्य त्रुटियां' गणित शिक्षक के लिए काफी उपयोगी लेख है। लेकिन लेखक ने उपचार तो बताया नहीं क्योंकि कई बार शिक्षक बच्चों की कमज़ोरियां तो भांप लेते हैं लेकिन उनका समाधान कैसे किया जाए यह उन्हें समझ नहीं आता।

मैं इस खत के माध्यम से एकलव्य द्वारा प्रकाशित 'स्रोत' पत्रिका के बारे में कुछ कहना चाहता हूं। मैं 'स्रोत' पत्रिका का विगत दो वर्षों से पाठक हूं। मुझे ऐसा लगता है कि इस पत्रिका में पाठकों की राय नहीं ली जाती। इसके लेख बड़े ही अद्यतन एवं ज्ञानवर्द्धक होते हैं। आवरण लेख बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। अगस्त 2002 का आवरण लेख 'बी. टी. कपास' काफी नई जानकारियां दे गया और कुछ भ्रमों का निवारण भी कर गया, लेकिन लेख में कहीं भी बी. टी. का शब्द-विस्तार नहीं दिया गया। कृपया आगामी अंक में ज़रूर दीजिए।

आशा है संदर्भ का अगला अंक समय पर मिलेगा।

रमेश जांगिड़
भादरा, ज़िला हनुमानगढ़, राजस्थान

पृथ्वी के दोनों ओर ज्वार उठने के असली कारण क्या हैं?

इस खत के माध्यम से मैं संदर्भ के अंक 41 में प्रकाशित 'ज्वार और भाटा' लेख पर अपनी कुछ प्रतिक्रियाएं भेज रहा हूं। ज्वार और भाटा लेख के पृष्ठ 19 पर सूर्य का ज्वार-भाटा पर कम प्रभाव होने का कारण सही नहीं है। पृष्ठ 28 पर लिखा है कि दूर होने पर भी सूर्य का गुरुत्वाकर्षण बल चांद की अपेक्षा 186 गुना बड़ा है।

सूर्य का गुरुत्वाकर्षण चंद्रमा की अपेक्षा ज़्यादा होने का सरल सबूत यह है कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करती है, न कि चांद के चारों ओर।

चांद के विपरीत दिशा में ज्वार-भाटे का स्पष्टीकरण देने के लिए पृथ्वी-चंद्र प्रणाली के गुरुत्व केन्द्र की आवश्यकता नहीं थी। और मेरे विचार से वह कारण भी सही नहीं है। विपरीत दिशा में ज्वार का कारण इस प्रकार है: पृथ्वी-चंद्र दूरी पृथ्वी की त्रिज्या से लगभग 60 गुनी है। इसलिए चांद की ओर के समुद्र पर गुरुत्वाकर्षण त्वरण (Acceleration) $(1/59)^2$ से अनुपाती है। विपरीत दिशा पर यह त्वरण $(1/61)^2$ से अनुपाती है। इसलिए विपरीत दिशा का समुद्र कम खींचा जाएगा अतः वहां भी समुद्री पृष्ठभाग पृथ्वी से दूर रहेगा तथा वहां भी ज्वार प्राप्त होगा।

सूर्य का पृथ्वी से अंतर पृथ्वी की त्रिज्या से 23,500 गुना है। इसलिए सूर्य की ओर का समुद्र और इसके विपरीत दिशा का समुद्र इनके गुरुत्वाकर्षण त्वरण क्रमशः $(1/23499)^2$ और $(1/23501)^2$ से अनुपाती हैं। इन दो राशियों में बहुत ही कम अंतर है इसलिए सूर्य का ज्वार-भाटे पर कम प्रभाव है।

यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि चंद्र या सूर्य की ओर का समुद्र और उनके विपरीत दिशा के समुद्र; इनके गुरुत्वाकर्षण त्वरण में जो अंतर है वह ज्वार-भाटे का कारण है।

इसी तरह पृष्ठ 26 पर दी गई तालिका में बिन्दु 'ओ' की ज़रूरत नहीं थी केवल पृथ्वी के स्वयं के अक्ष पर (बिन्दु 'बी') घूमने से अपकेंद्री बल मिलता है। लेकिन इसके साथ मैं एक बात और जोड़ना चाहता हूं कि अपकेंद्री बल एक 'भ्रामक बल' (Pseudo Force) है।

एक बात संदर्भ के पढ़ने वालों के लिए कि ज़रा सोचिए, जिस प्रकार

समुद्र में ज्वार-भाटा आता है उस प्रकार बोतल में रखे पानी में क्यों नहीं आता?

पुरुषोत्तम खांडेकर
गहटे कॉलोनी, नागपुर, महाराष्ट्र

लेखक का जवाब:
श्री पुरुषोत्तम खांडेकर के पत्र के संदर्भ में निम्नलिखित तथ्यों को ध्यान में रखना आवश्यक होगा:

उनका यह कहना सही है कि पृथ्वी की वह सतह जिस ओर चांद है और पीछे की सतह पर लग रहे चांद के गुरुत्वाकर्षण बल में अतर होगा। परन्तु अगर केवल यही एक बल काम कर रहा होता तो पीछे वाली सतह पर उभार की जगह वहां का पानी चांद-सूर्य वाले हिस्से की ओर खिंच जाना चाहिए। परन्तु ऐसा देखने को नहीं मिलता।

दरअसल पृथ्वी के उस हिस्से पर जो चांद के विपरीत दिशा में होता है ज्वार आता ही इसलिए है क्योंकि वहां अपकेन्द्रीय बल लग रहा होता है, जो वहां पर लग रहे चांद के गुरुत्वाकर्षण बल से कहीं ज़्यादा है।

उनका यह कहना सही है कि अपकेन्द्रीय बल पृथ्वी के अपनी धुरी के इर्द-गिर्द घूमने से भी लगेगा। परन्तु साथ ही पृथ्वी-चांद या पृथ्वी-सूर्य तंत्र के केन्द्र के इर्द-गिर्द घूमने से भी जो अपकेन्द्रीय बल लगता है उसका भी ज्वार-भाटा के परिमाण पर असर पड़ता है।

सूर्य के कारण आने वाला ज्वार, चांद से आने वाले ज्वार की तुलना में छोटा क्यों होता है यह लेख में पृष्ठ 28 व 29 पर विस्तार से समझाया गया है।

विक्रम चौरे, होशंगाबाद

अंक 41 मिला। इस अंक में मुझे जो लेख सबसे ज़्यादा पसंद आया वह है 'विकास योजनाओं में इंसान का पता नहीं'। इसे पढ़कर समझ में आया कि भौतिक रूप से उन्नति करने के बावजूद मानवीय रूप से पिछड़ापन क्यों रहता है। और सोचने लायक बात यह भी है कि विकसित देशों में यह समस्या इतनी ज़्यादा क्यों है। इसके अलावा कई गैर ज़रूरी चीज़ों की अधिकता और मूलभूत

रूप से आवश्यक चीज़ों की इतनी कमी क्यों हो जाती है। इस लेख में दिए गए तर्कों से मैं पूरी तरह सहमत हूं और मुझे यह जानकर खुशी हुई कि कई देश ऐसी योजनाएं लागू करने की दिशा में काम कर रहे हैं जिससे मानव विकास में मदद मिल सके।

'आदिमाता की खोज में' लेख भी काफी पसंद आया। मुझे अब तक यह नहीं पता था कि मायटोकोंड्रियल डी.एन.ए. सिर्फ मां से बच्चे के शरीर में पहुंचता है।

'गणित की सामान्य त्रुटियां' लेख में गणित के सवाल हल करते समय बच्चों द्वारा की गई त्रुटियां काफी आम हैं और अपनी प्राथमिक स्तर की पढ़ाई के दौरान मैंने भी इस प्रकार की त्रुटियां की हैं। यह लेख प्राथमिक स्तर के गणित के शिक्षकों के लिए उपयोगी है।

'जादुई कॉलर बटन' कहानी पढ़ते समय काफी माथा-पच्ची करनी पड़ी।

आसिफ अली खान
मुंबई

क्या है इसके मायने

40th issue Last issue

संदर्भ के वार्षिक सदस्यों के लिफाफे पर चिपकी पते वाली पर्ची पर ऊपर की तरह लिखा होता है। इसका मतलब है कि आपकी वार्षिक सदस्यता 40वें अंक तक है।

यदि आपकी पर्ची पर लिखा है 44th issue (Last issue) तो उसका अर्थ है कि 44वां अंक अंतिम है यानी आपकी सदस्यता 44वें अंक पर खत्म हो रही है। इसलिए अंक 43 मिलते ही अपनी वार्षिक सदस्यता का नवीनीकरण करवा लीजिए।

हंसिए और सीखिए
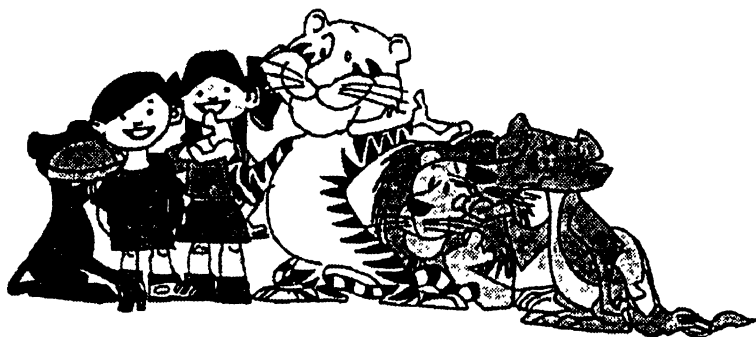
क्या आप एक मज़ाकिया शिक्षक हैं?

मूल लेख: एन्टोनियो लूसिआनो टोस्टाका
प्रस्तुति: रश्मि पालीवाल

एन्टोनियो ब्राज़ील के एक विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ी भाषा शिक्षण पद्धतियां पढ़ाते हैं। यह लेख 'इंग्लिश टीचिंग फोरम' नामक जर्नल के जनवरी 2001 के अंक में लिखा है। उन्होंने अपने सहकर्मी लिन मैलेट के साथ एक प्रश्नावली बनाई। वे लिखते हैं कि प्रश्नावली को बहुत गंभीरता से मत लीजिएगा - इसका निहित संदेश बस इतना ही है कि हंसिए और सीखिए। छात्रों के हर समूह के लिए क्या उपयुक्त है और क्या नहीं, इसमें ज़रूर विभेद कीजिए।

यदि आप एक भाषा शिक्षक हैं तो .....

1. क्या आप कक्षा में हास्यपूर्ण कहानियां सुनाएंगे?

   अ. नहीं, कभी नहीं।

   ब. अगर उचित लगे तो।

   स. जब कभी मौका मिले तो ज़रूर।

2. किसी शब्द के अर्थ का खुलासा करने के लिए क्या आप मज़ाकिया हाव-भाव और नाटकीय क्षणिकाओं का इस्तेमाल करेंगे?

   अ. कतई नहीं। यह मेरे बस की बात नहीं।

   ब. अगर मैं उस 'मूड' में हुई तो।

   स. ज़रूर छात्रों को आकर्षित करने के लिए कुछ भी किया जा सकता है।

3. क्या आप बच्चों की मातृभाषा में आने वाली पहेलियों और तुकबन्दियों का इस्तेमाल करेंगे।

   अ. नहीं, मैं तो इससे बचती हूं।

   ब. अगर इससे उन्हें याद करने में मदद मिलती है तो ज़रूर करूंगी।

   स. बच्चों को तो हमेशा ही ऊट-पटांग तुकबन्दियां अच्छी लगती हैं।

4. नाटकों के पात्रों के लिए हास्य भरे नाम रखेंगे?

   अ. कभी सोचा नहीं।

   ब. कभी-कभी करूंगी।

   स. हां, ज़्यादातर यही कोशिश रहेगी।

5. क्या आप लड़कों को लड़कियों की और लड़कियों को लड़कों की भूमिकाएं करने देंगे?

   अ. सवाल ही नहीं उठता। यह तो बेहूदगी होगी।

   ब. अगर मस्ती का माहौल बना हुआ है तो करूंगी।

   स. जब भी संभव हुआ, करूंगी क्योंकि बच्चों को यह बहुत प्रिय है।

6. टेप रिकॉर्डर पर या रेडियो पर गीत बजाते हुए क्या आप ध्वनि इतनी कम कर देंगे कि बच्चे खुद भी गुनगुना सकें?

अ. हमेशा तो नहीं।

ब. हां – अगर उन्हें गीत अच्छा लग रहा हो।

स. ज़रूर – हमेशा ही।

7. अगर बच्चों की टोलियां बनाई गई हैं और उनका नाम जानवरों के नाम पर रखा गया है, तो क्या किसी टोली के बच्चों का ज़िक्र करते हुए आप कहेंगे कि 'भई, गायों ने इस सवाल का क्या हल निकाला है?'

अ. नहीं, किसी को बुरा लगा सकता है।

ब. शायद . . . अगर हल्के-फुल्के ढंग से बातें हो रही हों तो।

स. क्यों नहीं। बुरा लगने का तो कोई प्रश्न नहीं होना चाहिए।

8. क्या आप मज़ेदार चित्रों व रेखांकनों की सहायता से अर्थों की व्याख्या करेंगे?

अ. नहीं, मैं चित्र नहीं बना सकती।

ब. कोशिश तो करती हूं।

स. मैं तो सारे उदाहरणों को स्पष्ट करने के लिए चित्र बनाती हूं।

अपना मूल्यांकन स्वयं करें–

हर 'अ' उत्तर के लिए 0 (शून्य) अंक दें।
हर 'ब' उत्तर के लिए 3 अंक दें।
हर 'स' उत्तर के लिए 6 अंक दें।

एन्टोनियो लूसिआनो टोस्टाका का यह प्रश्न पत्र हमें अपनी शिक्षकीय प्रवृत्तियों पर नज़र दौड़ाने का मौका देता है। जैसा कि इस तरह की प्रश्नावलियों में अक्सर होता है, हर प्रश्न के बाद तीन विकल्प हैं – पहला पूरी तरह नकारात्मक, दूसरा संतुलित व सकारात्मक व तीसरा पूरी तरह प्रतिबद्ध और जोश भरा। यदि आठों प्रश्नों पर आप कुल 0 से 14 अंक हासिल करेंगे तो लेखकों के सुझाव के अनुसार आपको अपने अंदर का बालक बाहर लाने की ज़रूरत है।

यदि आपने 15 से 40 अंक हासिल कर लिए हैं तो आप "समझदारी के साथ उपयुक्त विधियों का कक्षा में इस्तेमाल करते हैं।" और अगर आपने 41 से ज़्यादा अंक हासिल

कर लिए हैं तो आपको शायद सर्कस में होना चाहिए। आपके छात्रों को कक्षा में बेहद मज़ा आता होगा। पर आपको सावधान रहना है और सिखाने और करतब दिखाने के बीच अंतर करके रखने की ज़रूरत है।''

एन्टोनियो ज़ोर देते हैं कि सीखने के माहौल को खुशनुमा और सार गर्भित बनाने का कोई मौका मत चूकिए पर बहुत सोची-समझी योजनाबद्ध गतिविधियां कीजिए।

वे अपने लेख में कई ऐसी गतिविधियों का उल्लेख करते हैं जो मज़ेदार हैं और किसी भी विदेशी भाषा को सीखने में मदद करती हैं, फिर भी उनके इस लेख का मुख्य मसौदा मज़ाकिया शिक्षक के इर्द-गिर्द पनपे मिथक को भेद डालना और उन तमाम आशंकाओं व अध-कहे शकों को रोशनी में लाकर रखना है, जो हर शिक्षक को संकुचित करते रहते हैं।

मज़ाक (हास्य) का इस्तेमाल क्यों? क्योंकि जब आप हंसते हैं तो बेहतर सीखते हैं। हास्य-विनोद के इस्तेमाल से कक्षा का माहौल सुहाना बन पड़ता है, छात्र व शिक्षक में निकटता बढ़ती है, सीखने की क्रिया ज़्यादा आनंद-भरी व सारभरी बन जाती है, छात्रों का ध्यान खींचने में मदद मिलती है, छात्रों की खुशी में, सीखने की चाहत व लगन में बढ़ोत्तरी होती है।

अरसे से शिक्षक इस बात को पहचानते हैं कि छात्रों में घबराहट कम करना और लगन बढ़ाना सिखाने के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं। क्या वजह है कि फिर भी अधिकांश शिक्षक अपनी कक्षा में हास्य-विनोद व मज़ाक का बहुत कम इस्तेमाल करते हैं? इसके कई जवाब हैं। सबसे पहले तो बहुत से शिक्षक यह मानते हैं कि हास्य-विनोद के इस्तेमाल से कक्षा में किसी को ठेस पहुंच सकती है। फिर कुछ लोगों को लगता है कि हंसी-मज़ाक से कक्षा में अनुशासन बिगड़ सकता है और शिक्षक कक्षा पर अपना नियंत्रण खो सकता है। तर्क यह भी है कि हंसी-मज़ाक में समय ज़्यादा चला जाता है, शिक्षक छात्र की तुलना में ज़्यादा बोलता रहता है, और छात्र शायद शिक्षक पर ज़्यादा ही निर्भर बन जाते हैं। कक्षा में हंसी-मज़ाक से सशंकित रहने की एक आम वजह यह भी है कि लोग वाकई हास्य की गंभीरता पर विश्वास नहीं करते। हममें से कई लोग सोचते हैं कि कक्षा में अदायगी करने वाले शिक्षक की छवि शिक्षकीय पेशे से ठीक मेल नहीं खाती है। ऐसे शंकावान लोग हमेशा पूछते रहते हैं कि ''क्या छात्र सचमुच कुछ सीख भी रहे हैं?''

ये सारे सवाल और शक बहुत वाजिब हैं और इन्हें हरगिज़ अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए। पर, बहुधा

पूर्वाग्रह भरे ख्याल शिक्षकों और छात्रों को इतना जकड़े रहते हैं, कि वे एक ऐसी शिक्षण प्रक्रिया से अपने आपको वंचित करते रहते हैं जो ज़्यादा आनंददायी और अर्थवान है – ऐसी शिक्षण प्रक्रिया जिसकी खोज हम अपने दिन-प्रतिदिन के प्रयासों में करते ही रहते हैं।

* * *

'पूर्वाग्रह भरे ख्याल जो लोगों को जकड़े रहते हैं' – इस बात की जो पीड़ा लेखक व्यक्त करता है, वह कदाचित चिर-परिचित है। इस संबंध में आपके भी कुछ अनुभव होंगे। क्या आप संदर्भ के पाठकों के साथ इन्हें बांटेंगे? मुझे याद आने लगते हैं कई प्रसंग जहां हम 'हास्य की गंभीरता' में विश्वास व अविश्वास के बीच झूल रहे थे। निरंकार देव सेवक की एक कविता है, जिसे हम कक्षा 4 या 5 की किताब में हिन्दी भाषा सिखाने के उद्देश्य से रख रहे थे – और जिस पर कई सवाल लोगों के मन में उठे। कविता यह थी:

कहीं एक बुढ़िया थी जिसका नाम नहीं था कुछ भी
वह दिन भर खाली रहती थी काम नहीं था कुछ भी
काम न होने पर भी आराम नहीं था कुछ भी
दोपहरी दिन रात सबेरे शाम नहीं था कुछ भी
कहीं एक बुढ़िया थी जिसका नाम नहीं था कुछ भी।

कुछ लोगों को यह कविता अपने निहित हास्य और संवेदना से रिझा रही थी तो कई लोगों को बिल्कुल बेमानी लग रही थी। लोग इसके हास्य को बहुत ही गंभीरता से ले रहे थे। शब्दशः गंभीरता से।

"ऐसे कैसे हो सकता है कि बुढ़िया का नाम नहीं था कुछ भी? कुछ तो नाम रहा ही होगा।"

"ऐसे कैसे हो सकता है कि उसके पास काम नहीं था कुछ भी? भई वो अपना नहाना-धोना, खाना-पीना तो करती ही होगी? यह काम नहीं हुआ क्या?"

यह बहस जिस स्तर के विचारों पर हो रही थी उससे भान मिलता था कि लोगों के अंदर का 'बालक' कहीं बहुत अंदर दब चुका था। शायद कोई मनोवैज्ञानिक हमें समझा सकता है कि कैसे जीवन-अनुभवों से

हमारे अंदर का बालक मर जाता है। शिक्षा में हास्य, फूहड़पन व बेहूदगी न हो; उसमें उद्देश्य हो, आस्था हो, और सहज निर्भयता भी — ऐसे संतुलन के लिए प्रयास करने की ज़रूरत है। इस दृष्टि के विकास में हमें अभी और परिश्रम करना होगा — क्या हम अपने अंदर के बालक को जीवित रखने का प्रयत्न करेंगे? एन्टोनियो टोस्टाका की प्रश्नावली आपका क्या मूल्यांकन करती है?

एन्टोनियो लूसिआनो टोस्टाका: ब्राज़ील में विश्वविद्यालय स्तर पर अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ी भाषा शिक्षण पद्धतियां पढ़ाते हैं।

रश्मि पालीवाल: एकलव्य के सामाजिक अध्ययन शिक्षण कार्यक्रम से जुड़ी हैं।
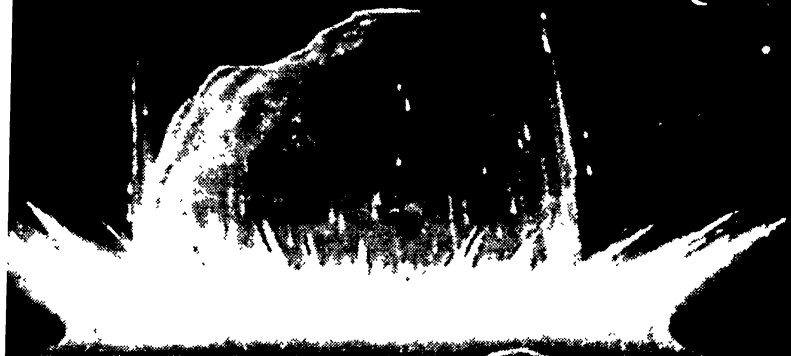
पिछले दिनों आपने अखबारों में छपी खबरों पर गौर किया होगा तो आपको याद आएगा कि अखबारों में एक खबर काफी ज़ोर-शोर से प्रकाशित हुई थी कि सन् 2019 की पहली फरवरी को एक क्षुद्रग्रह 2002 NT-7 के धरती से टकराने की पूरी संभावना है। इस क्षुद्रग्रह और उसके खतरनाक इरादों के बारे में इसी साल जुलाई के महीने

में पहली बार पता चला है।

शायद इस तरह की खबरों का मकसद जनता को डराना या सनसनी फैलाना नहीं होता लेकिन अभी भी कई लोगों को स्काईलैब को लेकर भारत में (खासकर बम्बई में) मची खलबली और अफवाहों की याद होगी। उस समय सिर्फ एक संभावना के तौर पर कहा गया था कि स्काईलैब भारत में कहीं गिर सकता है।

हम में से कुछ लोगों ने जुलाई 1994 में धूमकेतु शूमेकर-लेवी की बृहस्पति से टक्कर के दृश्य टी.वी. पर देखे होंगे। इस धुमकेतु के इक्कीस टुकड़ों ने बृहस्पति पर विशाल व अत्यन्त शक्तिशाली धमाके किए थे।

अभी साल भर पहले रूसी स्पेस स्टेशन 'मीर' को भी इन्हीं सब संभावनाओं और अफवाहों के बीच सफलता पूर्वक समुद्र में गिराया गया था।

2002 NT-7 के बारे में जो मोटी-मोटी जानकारी अभी हासिल हो सकी है उसके मुताबिक इसकी लंबाई तकरीबन दो किलोमीटर है और यह धरती के परिक्रमा कक्ष को काटते हुए गुज़रता है और सूरज की एक परिक्रमा 2.29 साल में पूरी करता है। इस क्षुद्रग्रह यानी एस्टेरॉयड का परिक्रमा कक्ष लगभग वैसा ही है जैसा धूमकेतुओं का होता है। 2002 NT-7 के बारे में एक और बात बताई जा रही है कि 2019 के बाद सूर्य के 17-18 चक्कर लगाकर यह फिर से 2060 की पहली फरवरी को धरती के पास से गुज़रेगा। इस एस्टेरॉयड के बारे में अभी और जांच-पड़ताल की जा रही है। हालांकि इसे कम-से-कम खतरे की सूची में रखा गया है लेकिन अटकलों और पूर्वानुमानों के बीच अमेरिका और कई यूरोपीय देशों ने 2002 NT-7 से निपटने के लिए अपने-अपने अभियानों की घोषणाएं भी कर दी हैं।

इन अभियानों पर थोड़ी देर बाद आते हैं – क्षुद्रग्रहों के बारे में थोड़ी चर्चा करने के बाद। (क्षुद्रग्रहों को आजकल छोटे ग्रह भी कहा जाता है) इनकी खोज कैसे हुई? ये मुख्य ग्रहों से किस तरह फर्क हैं? ये धरती के लिए खतरा किस तरह बनते हैं... वगैरह। इसके लिए हमें अठारहवीं सदी में जाना पड़ेगा क्योंकि इनके बारे में हमें तकरीबन 200 साल पहले ही पता चला था।

बात पुराने दौर की

बात 1770 के आसपास की है – जर्मनी के एक गणितज्ञ और भौतिकशास्त्री जोहानेस डेनियल टिटियस ने अंकों की एक ऐसी श्रेणी बनाई जिससे ग्रहों की सूर्य से दूरी का पता चलता था। इस तालिका को बाद में टिटियस-बोड तालिका* कहा जाने

लगा। (तालिका के लिए देखिए अगला पृष्ठ।)

इस तालिका में उस समय तक ज्ञात — बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति और शनि शामिल थे। तालिका इस बात को इंगित करती थी कि मंगल और बृहस्पति के बीच में एक और ग्रह होना चाहिए। लेकिन उस समय इस तालिका पर भरोसा करने वाले लोग काफी कम थे। सन् 1781 में विलियम हर्शेल ने यूरेनस की खोज की और यूरेनस की सूर्य से दूरी लगभग उतनी ही पाई गई जितनी टिटियस-बोड तालिका बताती थी फिर तो इस तालिका पर बहुत से लोग भरोसा करने लगे।

जैसा कि आप तालिका में देखेंगे इस तालिका के अनुसार मंगल और बृहस्पति के बीच में एक और ग्रह होना चाहिए था। तालिका पर भरोसा करने वाले जर्मनी के बेरॉन वॉन जख ने सन् 1800 में कई खगोलविदों को मंगल-बृहस्पति के बीच छुपे इस ग्रह की खोज में शामिल होने का आग्रह किया, और एक सम्मेलन के दौरान कई खगोलविदों को खोज के लिए आसमान में इलाके भी वितरित कर दिए। इस सम्मेलन की सूचना खत के मार्फत यूरोप के कई खगोलविदों को भी भेजी गई। इस खोज में शामिल लोगों को 'सेलेशियल पुलिस' यानी आसमानी चौकीदार कहा गया।

छुपे ग्रह की खोज

छुपे ग्रह के इस खोज अभियान से एकदम बेखबर सिसली का खगोलविद पिआज़्ज़ी टेलीस्कोप की मदद से आसमान में नए तारों की सूची का मिलान कर रहा था। 31 दिसंबर, 1800 की रात उसने वृषभ (टोरस) तारामंडल में एक धुंधले से पिंड को देखा। अगली रात वह अपनी पिछली रात की स्थिति से कुछ खिसका हुआ था। उसकी अगली रात भी स्थिति में परिवर्तन नज़र आया। कुछ और अवलाकना के बाद पिआज़्ज़ी को विश्वास होने लगा था कि निश्चित ही यह एक नई खोज है, लेकिन छुपे ग्रह की खोज वाले मिशन से वाकिफ न होने के कारण उसे लगा कि उसने किसी नए तारे या किसी धूमकेतु की खोज की है। पिआज़्ज़ी ने अपनी खोज

इस तालिका को जर्मनी के खगोलविद जोहान एलर्ट बोड ने अपनी किताब 'इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ द स्टारी स्काई' में फुटनोट के रूप में छपवाया। इस तालिका के साथ टिटियस का नाम न होने की वजह से सभी लोग इसे 'बोड का नियम' नाम से जानने लगे। काफी बाद में बोड ने इस सच्चाई को स्वीकार किया कि उसने टिटियस की तालिका को अनुदित करके अपनी किताब में प्रकाशित किया था। इस सच्चाई को जानने के बाद इस तालिका को टिटियस-बोड तालिका कहा जाने लगा।

टिटियस-बोड तालिका

ग्रह	टिटियस के अनुसार	सूर्य से वास्तविक दूरी*
बुध	(4 + 0)/10 = 0.4	0.387
शुक्र	(4 + 3)/10 = 0.7	0.723
पृथ्वी	(4 + 6)/10 = 1.0	1.0
मंगल	(4 + 12)/10 = 1.6	1.52
छोटे ग्रह**	(4 + 24)/10 = 2.8	2.77
गुरु	(4 + 48)/10 = 5.2	5.203
शनि	(4 + 96)/10 = 10.0	9.539
यूरेनस**	(4 + 192)/10 = 19.6	19.182
नेपच्यून**	(4 + 384)/10 = 38.8	30.058
प्लूटो**	(4 + 768)/10 = 77.2	39.44

* *सूर्य से वास्तविक दूरी एस्ट्रोनॉमिकल यूनिट पर आधारित है। एक एस्ट्रोनॉमिकल यूनिट यानी लगभग 14 करोड़ 95 लाख 97 हज़ार किलोमीटर यानी धरती से सूरज की दूरी के बराबर होता है।*

** *इनकी खोज तालिका बनने के बाद हुई थी।*

टिटियस का नियम वास्तव में न्यूटन के सिद्धांत जैसा कोई नियम नहीं था। यह महज संख्याओं की एक श्रेणी है। इन संख्याओं को प्राप्त करने का तरीका बहुत ही आसान था। ग्रहों के नाम क्रम से लिखकर उनके सामने 0, 3, 6, 12, 24, 48,...... को एक क्रम में लिखा। इन सभी संख्याओं में चार जोड़ते हैं और दस से भाग देते हैं। इससे जो आंकड़े सामने आते हैं वे आश्चर्यजनक ढंग से ग्रहों की सूरज से दूरी से काफी हद तक मेल खाते हैं। जब यह तालिका प्रकाशित हुई थी उस समय छोटे ग्रहों वाली जगह खाली थी। इसी तरह शनि के बाद वाले ग्रहों (यूरेनस, नेपच्यून, प्लूटो) के बारे में भी जानकारी नहीं थी।

इस तालिका पर भरोसा करने वालों को पहला झटका तब लगा जब 1846 में नेपच्यून की खोज हुई। तालिका के हिसाब से नेपच्यून की सूरज से दूरी और वास्तविक दूरी के बीच आए भारी अंतर ने लोगों का इस श्रेणी पर से भरोसा तोड़ दिया। 1930 में प्लूटो के मामले में भी यह अंतर दोगुने तक पहुंच गया, इसलिए उसके बाद तो इस तालिका को दरकिनार कर दिया गया।

के बारे में जनवरी 1801 के आखिर में बर्लिन खगोलशाला के डायरेक्टर जे. ई. बोड को लिखा। बोड को यह खत काफी दिनों बाद मिला। बोड ने जब वॉन से चर्चा की तब तक वह धुंधला पिंड दिन के आसमान में पहुंच चुका था इसलिए अब अवलोकन कर पाना कठिन था। अब इंतज़ार उस

दिन का था जब वह पिंड दुबारा रात में दिखाई देने लगे ताकि उसकी सूरज से दूरी और कक्षा के बारे में गणनाएं की जा सकें। वह पिंड रात में फिर से दिखने भी लगता तो उसे कहां खोजा जाए यह भी एक समस्या थी। इन सब समस्याओं से उबारा गणितज्ञ कार्ल फेडरिख गॉस ने। गॉस ने ग्रहों की कक्षा निर्धारित करने का एक नया तरीका विकसित किया था। उसने अपने तरीके से उस पिंड की सूर्य से दूरी और कक्षा की गणना की। उसके मुताबिक यह पिंड सूरज से लगभग 41 करोड़ किलोमीटर की दूरी (यानी 2.77AU) पर स्थित था। साथ ही उसने आकाश में वह संभावित स्थान भी बता दिया जहां वह पिंड रात के समय पुनः प्रकट हो सकता था।

गॉस की गणनाओं के मुताबिक इस पिंड की सूरज से दूरी बोड-टिटियस तालिका में इंगित दूरी से मेल खाती थी। बस फिर क्या था, वॉन जख ने तुरन्त 'छुपे हुए ग्रह' के मिलने की घोषणा कर दी। इस पिंड का नाम पिआज़ी ने 'सेरेस' रखा। इस तरह मंगल और बृहस्पति के बीच छुपा हुआ ग्रह खोज लिया गया था लेकिन उत्साही 'सेलेशियल पुलिस' ने अपना काम जारी रखा।

इस खोज के कुछ महीनों बाद सूरज से लगभग उतनी ही दूरी पर एक अन्य पिंड खोजा गया जिसे 'प्लास' नाम दिया गया। 1804 में 'जूनो' नामक पिंड खोजा गया। इन सभी को छुपे हुए ग्रह की पदवी देने वालों को तब तक समझ में आ गया था कि यहां मामला कुछ और ही है। 1807 में एक और पिंड 'वेस्टा' की खोज के बाद यह कहा जाने लगा कि मंगल-बृहस्पति के बीच में कोई एक ग्रह नहीं वरन् काफी सारे छोटे-छोटे ग्रहों की संभावना है। 1850 तक 300 से ज़्यादा छोटे ग्रह खोजे जा चुके थे। मंगल और बृहस्पति के बीच के इस स्थान को एस्टेरॉयड बेल्ट कहा गया। 1850 के बाद शायद ही कोई साल ऐसा बीता हो जब किसी-न-किसी छोटे ग्रह को न खोजा गया हो। आज हम 7000 से ज़्यादा छोटे ग्रहों के बारे में जानते हैं।

छोटे ग्रह – कुछ और तथ्य

एस्टेरॉयड की उत्पत्ति के बारे में एक व्याख्या प्रचलित है कि सौर मंडल की उत्पत्ति के समय मंगल और बृहस्पति के बीच में एक और ग्रह मौजूद था। किन्हीं कारणों से वह पिंड बृहस्पति के काफी करीब पहुंच गया और बृहस्पति के अत्यन्त बलशाली गुरुत्वाकर्षण बल की वजह से कई टुकड़ों में टूटकर बिखर गया, और ये सब टुकड़े अपनी अलग-अलग कक्षाओं में सूर्य के इर्द-गिर्द घूमने लगे।

इसी तरह एस्टेरॉयड बेल्ट की
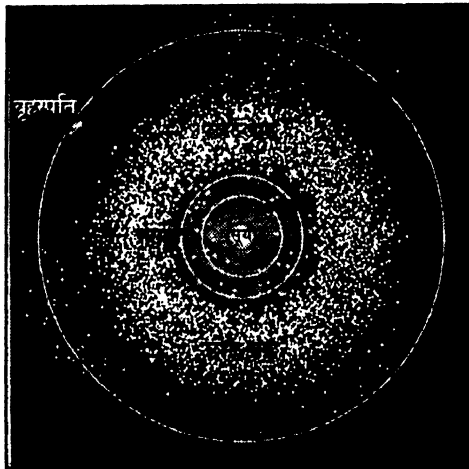
छोटे ग्रहों की मौजूदगी: इस रेखा-चित्र में पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति के अलावा छोटे ग्रह (एस्टेरॉयड) भी दिखाई दे रहे हैं। छोटे ग्रह मुख्य रूप से मंगल और बृहस्पति के बीच पाए जाते हैं। यदि चित्र को ध्यान से देखें तो कुछ छोटे ग्रह बृहस्पति की कक्षा के बाहर भी दिखाई दे जाएंगे, तो कुछ पृथ्वी और मंगल के बीच भी। अभी तक ज्ञात छोटे ग्रहों की संख्या 7000 से ऊपर है। कई बार ऐसा भी हुआ है कि खोजा गया छोटा ग्रह गुम हो गया, बाद में कुछ साल बाद उसे दुबारा खोजा गया। इस समस्या से बचने के लिए जैसे ही किसी छोटे ग्रह की खोज होती है उसे 'अस्थाई पहचान नंबर' दिया जाता है। अस्थाई नंबर जिस साल और जिस महीने वह खोजा गया है उससे जुड़ा होता है। अस्थाई नंबर 'मायनर प्लेनेट सेंटर' द्वारा दिया जाता है। जब उस छोटे ग्रह की सूर्य से दूरी और कक्ष का निर्धारण हो जाता है तो उसे 'स्थाई पहचान नंबर' दिया जाता है। जैसे 2002 NT-7 को ही लें तो इसे जुलाई यानी सातवें महीने में सन् 2002 में खोजा गया है।

उत्पत्ति की एक और व्याख्या है कि एस्टेरॉयड अंतरिक्षीय पदार्थ का मलबा हैं। जब सौर मंडल का निर्माण हो रहा था तब किन्हीं कारणों से यह 'अंतरिक्षीय मलबा' ग्रह के रूप में निर्मित नहीं हो सका। इस व्याख्या में भी ग्रह के रूप में तब्दील न होने की खास वजह बृहस्पति की गुरुत्वाकर्षण शक्ति को ही बताया जाता है।

एस्टेरॉयड बेल्ट के टुकड़े बाकी ग्रहों की तरह दीर्घवृत्ताकार पथ में सूर्य की परिक्रमा करते हैं, और साथ ही अपने अक्ष पर भी घूम रहे हैं, लेकिन आकार में ये काफी छोटे हैं इसलिए इन्हें छोटे ग्रह (Minor Planets) कहा गया। (इस लेख में जहां-जहां एस्टेरॉयड लिखा गया है उसका तात्पर्य छोटे ग्रहों से ही है।)

सौर मंडल के प्रमुख नौ ग्रहों के मुकाबले छोटे ग्रहों का 7000 का आंकड़ा देखकर ऐसा लग सकता है कि यहां पर सौर मंडल की काफी संहति (Mass) है। लेकिन वास्तव में ऐसा है नहीं। एक अनुमान के अनुसार एस्टेरॉयड बेल्ट के सभी छोटे ग्रहों की सम्मिलित संहति हमारे चांद की संहति की आधी ही होगी।

इसी तरह आकार के मामले में

भी छोटे ग्रहों में काफी विविधता है। सबसे पहले सेरेस को खोजा गया जिसका व्यास करीब 1000 किलोमीटर है। दूसरी ओर कुछ छोटे ग्रहों का व्यास केवल कुछ मीटर ही है। बृहस्पति की ओर भेजे गए एक अंतरिक्ष यान ने अपनी लंबी अंतरिक्ष यात्रा के दौरान एस्टेरॉयड बेल्ट में करीब 100 ऐसे छोटे ग्रहों का पता लगाया जिनका आकार 20 सेंटीमीटर था और वे अपने निश्चित कक्ष में सूरज का चक्कर लगा रहे थे।

इन छोटे ग्रहों का आकार (Shape) काफी उबड़-खाबड़ है। दरअसल काफी छोटे होने की वजह से इनका गुरुत्वाकर्षण बहुत कम है और इसलिए वे गेंद जैसे गोलाकार नहीं पाए जाते। यह स्थिति सौर मंडल के अन्य नौ ग्रहों से बहुत भिन्न है जो लगभग गेंद की तरह गोलाई लिए हुए हैं। गुरुत्वाकर्षण से ही जुड़ा एक और मसला है कि सेरेस जैसे छोटे ग्रह पर पलायन वेग (Escape Velocity) केवल आधा किलोमीटर/प्रति सेकेंड है
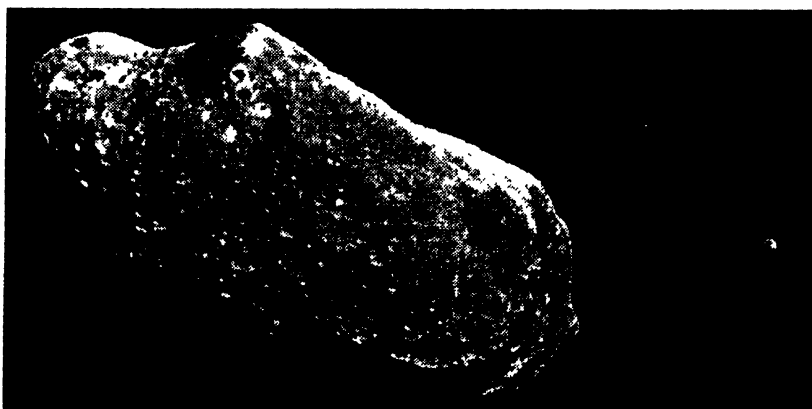
एक उपग्रह इनका भी: गेलीलियो स्पेसक्राफ्ट की मदद से 1993 में इडा एस्टेरॉयड का लिया गया एक चित्र। इसमें पत्थर के टुकड़े जैसा असमान आकार वाला इडा तो दिख ही रहा है साथ ही उसका एक उपग्रह भी दिखाई दे रहा है। इडा 55 किलोमीटर लंबा और 24 किलोमीटर चौड़ा है। इसके उपग्रह का व्यास एक किलोमीटर है और यह इडा से 100 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है।

ज़्यादातर छोटे ग्रहों की रासायनिक बनावट के बारे में स्पेक्ट्रोस्कोप के ज़रिए पता लगाया गया है। छोटे ग्रहों को रासायनिक बनावट के आधार पर कार्बनमय, सिलिकामय, लोहमय, जैविक पदार्थ युक्त, जैसी कई श्रेणियों में बांटा जा सकता है।
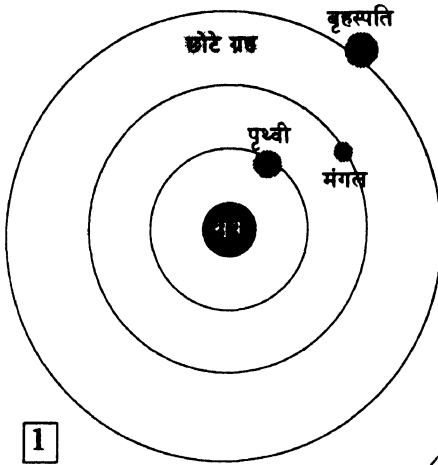
इन दो पृष्ठों पर दिए गए रेखाचित्र अनुपातिक नहीं हैं। चूंकि इनका प्रमुख उद्‌देश्य छोटे ग्रहों के पथ समझाना है इसलिए ग्रहों के कक्ष व अन्य सब कुछ अत्यन्त सरल करके दिखाए गए हैं।
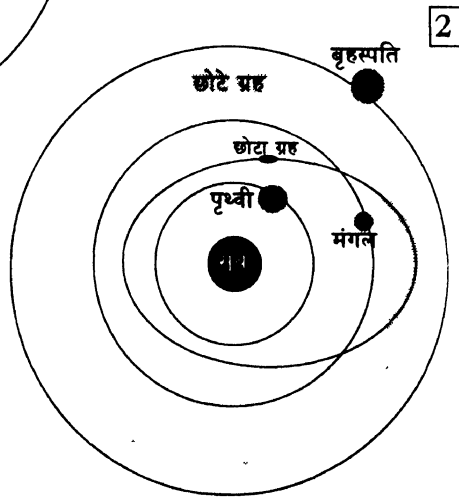
1. इस चित्र में सूरज की परिक्रमा करने वाले ग्रहों में से पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति को दिखाया गया है। मंगल और बृहस्पति के बीच मौजूद छोटे ग्रहों की पट्टी भी दिख रही है। इस पट्टी में अब तक 7000 से भी ज़्यादा छोटे ग्रह खोजे जा चुके हैं और इनकी संख्या दस हज़ार पार होने की संभावना है। अधिकांश छोटे ग्रह एॅस्टेरॉयड बेल्ट में रहते हुए ही सूर्य की परिक्रमा करते हैं इसलिए इनकी धरती से दूरी बनी रहती है।
2. इन छोटे ग्रहों में से कुछ के परिक्रमा पथ अत्यन्त अंडाकार होते हैं जिसकी वजह से सूरज का चक्कर लगाते समय ये धरती के करीब से गुज़र सकते हैं। चित्र-2 में एक छोटे ग्रह का परिक्रमा पथ दिखाया गया है जिसका एक छोर एस्टेरॉयड पट्टी में है तो दूसरा छोर पृथ्वी और मंगल के बीच। यह पिंड धरती से काफी दूर से गुज़रता है
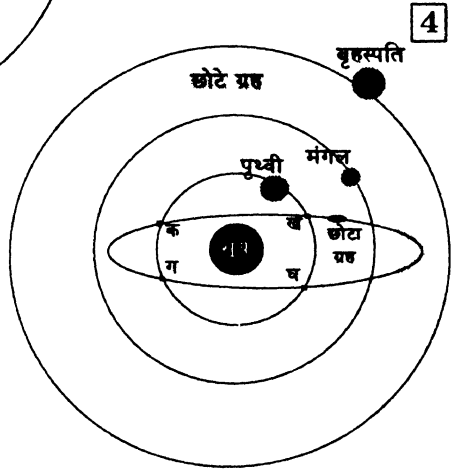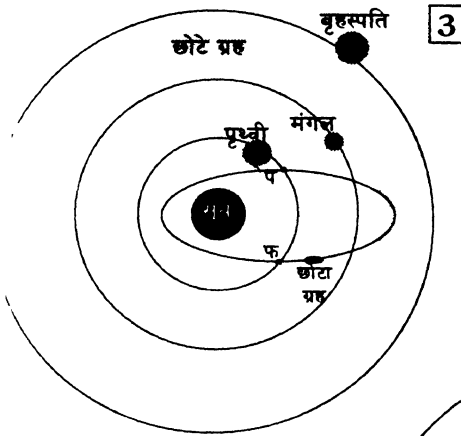
इसलिए फिलहाल इससे कोई खतरा नहीं है।

3. यह एक ऐसे छोटे ग्रह का परिक्रमा पथ है जो और भी ज्यादा चपटा है। यह मंगल की कक्षा को तो काटता ही है साथ ही पृथ्वी के परिक्रमा पथ को भी दो जगहों (प, फ) पर काट रहा है। ऐसे छोटे ग्रहों से पृथ्वी को खतरा तभी हो सकता है जब पृथ्वी और छोटा ग्रह दोनों एक ही समय बिन्दु प या फ के आसपास हों।

4. इस चित्र में दिखाए गए छोटे ग्रह का परिक्रमा पथ 2002 NT-7 के परिक्रमा पथ से मेल खाता है। यह पथ पृथ्वी के परिक्रमा पथ को चार जगहों पर (क, ख, ग, घ) पर काट रहा है। पृथ्वी के लिए इस छोटे ग्रह से खतरा तभी हो सकता है जब छोटा ग्रह और पृथ्वी इन चार बिन्दुओं में से किसी एक बिन्दु पर एक ही समय आसपास हों।

छोटेग्रह, धूमकेतु और उल्कापिंड

रात के आसमान में अक्सर आपने तारे टूटते देखे होंगे और आपस में कहते हुए सुना भी होगा कि कल रात तारा टूटते देखा। जिसे हम तारा टूटना कहते हैं वे वास्तव में उल्कापिंड (Meteor) होते हैं। उल्कापिंड अंतरिक्ष में बिखरा हुआ वह मलबा है जिसमें एक मिलीमीटर आकार से लेकर कुछ मीटर आकार के चट्टानी टुकड़े शामिल हैं। यह समझने के लिए कि हमारे वायुमंडल में आकर जलने वाले उल्कापिंड आखिर कहां से आते हैं, कुछ बड़े उल्कापिंडों पर पृथ्वी के करीब आने से पहले से नज़र रखी गई। फिर उनके फोटो लेकर उनके रास्ते को पीछे बढ़ाकर देखा गया तो पता चला कि ये छोटे ग्रहों से संबंधित हैं। कुछ और अध्ययनों से पता चला कि उल्कापिंडों की उत्पत्ति छोटे ग्रहों के आपस में टकराव या टूट-फूट की वजह से भी होती है। वहीं कुछ उल्कापिंडों को धूमकेतु सूर्य का चक्कर लगाते समय अपने पीछे छोड़ जाते हैं।

दुनिया में कयामत लाने वाले पुच्छलतारों (धूमकेतु) के बारे में अक्सर कई तरह की चर्चाएं सुनने में आती हैं। 1997 में भारत में काफी लोगों ने 'हेल बॉब' नाम का पुच्छलतारा देखा था। एक सामान्य पुच्छलतारे का कुछ हिस्सा वाष्पशील पदार्थों से बना होता है, इसलिए जब ये सूरज के करीब आते हैं तो वाष्पशील पदार्थ वाष्प में तब्दील हो जाते हैं और पूंछ का निर्माण हो जाता है। जैसे-जैसे पुच्छलतारा सूरज से दूर जाता है वह दुबारा ठोस रूप में वापस आने लगता है। कई बार ऐसा भी होता है कि पुच्छलतारे का सारा वाष्पशील हिस्सा खत्म हो जाता है और उसका ठोस चट्टानी हिस्सा पहले की तरह सूरज का चक्कर लगाता रहता है। लेकिन ऐसी स्थिति में सूरज के नज़दीक आने पर भी इसमें पहले की तरह पूंछ नहीं बनती। इसलिए ऐसे पुच्छलतारे छोटे ग्रहों की तरह ही दिखते हैं।

धरती पर इन तीनों को विनाश का पर्याय माना जाता है। आप किसी जीव वैज्ञानिक या जीवाश्मविद से पूछकर देखिए कि इस धरती से डायनॉसोर कैसे खत्म हुए? संभव है वो आपको बताएगा कि कैसे 6.5 करोड़ साल पहले एक एस्टेरॉयड या धूमकेतु धरती से टकराया और धरती से काफी सारी प्रजातियों का अंत हो गया। इनमें डायनॉसोर भी शामिल थे। यदि आप उल्कापिंडों की चर्चा किसी भूगर्भशास्त्री से करेंगे तो वह आपको अमरीका, रूस, ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, दक्षिण अफ्रीका समेत कई इलाकों का हवाला देकर बताएगा कि इन जगहों पर पिछले लाखों-करोड़ों सालों में उल्का पिंडों के गिरने से 50 किलोमीटर से 300 किलोमीटर तक व्यास वाले विशाल गड्ढे बन गए थे।

इनमें से कुछ तो विशाल झीलों में भी तब्दील हो चुके हैं। भारत में महाराष्ट्र की प्रसिद्ध लोनार झील भी उल्कापिंड की वजह से बनी है। परमाणु बमों की खासी समझ रखने वाले आपको यह बता सकते हैं कि 200 मीटर व्यास का उल्कापिंड अगर धरती पर गिरे तो कितने एटम बमों के बराबर नुकसान हो सकता है।

सन् 1908 में साइबेरिया में एक विशाल उल्कापिंड के धरातल से कुछ किलोमीटर ऊपर फटने की वजह से साइबेरिया में कई किलोमीटर इलाके के जंगलों को बहुत नुकसान हुआ था। यदि उल्कापिंड वगैरह ऐसे इलाकों पर गिरे जहां खासी तादाद में इंसानी आबादी मौजूद हो, तो क्या होगा? शायद यही वह सवाल है जिसकी वजह से छोटे ग्रहों, उल्कापिंडों और धूमकेतुओं को हर हालत में धरती से दूर रखने के बारे में सोचा जा रहा है।

वैसे यहां यह बता देना भी वाजिब रहेगा कि जिन्हें हम विनाश का पर्याय मान रहे हैं, कुछ लोग उन्हें धरती पर ज़िंदगी लाने वाला भी मानते हैं। धरती पर जीवन की उत्पत्ति के बारे में एक परिकल्पना यह भी है कि करोड़ों साल पहले कोई धूमकेतु या छोटा ग्रह धरती से आकर टकराया। इस धूमकेतु/छोटे ग्रह के मार्फत धरती पर जटिल जैविक अणु आए जिनसे धीरे-धीरे प्रारंभिक जीवन का विकास शुरू हुआ। छोटे ग्रहों की करीबी जांच-पड़ताल से एक तथ्य सामने आया है कि कुछ छोटे ग्रह सिर्फ जैविक पदार्थों से बने हुए हैं। यह तथ्य इस परिकल्पना के पक्ष में जाता है।

जिसकी वजह से यहां वायुमंडल मौजूद नहीं है।

अगला मुद्दा है छोटे ग्रहों के कक्ष का। वैसे तो अधिकांश छोटे ग्रह एस्टेरॉयड बेल्ट में लगभग गोलाकार कक्ष में घूमते हैं लेकिन इनमें भी काफी विविधताएं हैं। कुछ छोटे ग्रह बृहस्पति के कक्ष में घूमते हुए सूर्य का चक्कर लगा रहे हैं। इन छोटे ग्रहों को ट्रोजन (Trojan) कहते हैं। यह सोचकर ही हैरानी होती है कि बृहस्पति से आगे और बृहस्पति से पीछे छोटे ग्रहों का हजूम निश्चिंत भाव से सूरज का चक्कर लगा रहा है। इनकी इस बड़े ग्रह से टक्कर नहीं होती क्योंकि ये बृहस्पति से एक समान दूरी (60 डिग्री का अंतर) बनाए रखते हैं। कुछ छोटे ग्रहों के कक्ष इतने दीर्घवृत्ताकार हैं कि वे धूमकेतुओं जैसा रास्ता नापते हैं। चिरॉन एस्टेरॉयड का कक्ष शनि और यूरेनस के कक्ष के बीच से शुरू होता है।

कुछ ऐसे छोटे ग्रह भी हैं जो धरती के करीब से गुज़रते हैं। ऐसे छोटे ग्रह जो पृथ्वी के कक्ष तक चले आते हैं उन्हें धरती के पास वाले पिंड (Near Earth Objects) की श्रेणी में रखा जाता है। मुख्य खतरा तो इन्हीं से है, इसलिए इन पर खास नज़र रखनी पड़ती है। दुनिया की कुछ दूरबीनें केवल इसी काम में मशगूल हैं जिनकी वजह से समय-समय पर हमें इनके बारे में सूचनाएं मिलती रहती हैं। वैसे कई खोजी दल कोशिश कर रहे हैं कि धरती के लिए खतरनाक साबित होने वाले सभी छोटे ग्रहों के बारे में 2008 तक पक्के तौर पर जानकारियां हासिल कर ली जाएं।

क्या कयामत का दिन आएगा?

एक बार फिर लौटते हैं अखबारों में छपी खबरों पर। अभी 2002 NT-7 के बारे में कुछ मोटी-मोटी जानकारियां ही मिली हैं लेकिन मुकाबले के लिए तरह-तरह के मिशनों की घोषणाएं होने लगी हैं। एक मिशन 'डॉन क्विग्ज़ौट' के नाम पर स्पेन में शुरू हो रहा है। (स्पेनीश साहित्य में रुचि रखने वाले लोग जानते हैं कि सरवान्तीस के प्रसिद्ध उपन्यास का नायक था डॉन क्विग्ज़ौट जिसने मध्यकाल में कइयों को धूल चटाई थी।) इस अभियान के तहत इस एस्टेरॉयड पर परमाणु अस्त्र-शस्त्र दागकर उसके मार्ग में परिवर्तन लाने की कोशिश की जाएगी।

1 फरवरी, 2019 को इस एस्टेरॉयड से कितना गंभीर खतरा है इस बारे में अलग-अलग मत हैं। इससे पहले भी ऐसा होता रहा है कि पहले अचानक सब ओर खतरे की चर्चा होने लगती है, फिर अकादमिक बहसों के बाद सारा मामला सुगमता से सुलझ जाता है। कुछ लोग यह भी मानते हैं कई बार वित्तीय संकट से गुज़र रहे अंतरिक्ष प्रोग्राम खुद को चर्चा में बनाए रखने के लिए (या फंडिंग को सुचारू बनाए रखने के लिए) भी अखबारों-टी.वी. जैसे माध्यमों से सनसनी फैलाते हैं; बाद में अक्सर इनका खंडन या संशोधन किया जाता है। 'चांद पर पानी मिलने' या 'मंगल पर पानी के भंडार मिलने के संकेत' या 'मंगल ग्रह पर जीवन के अवशेष पाए जाने' जैसे समाचार ज़्यादा पुराने नहीं हैं।

मौजूदा दौर में ब्रह्मांड के बारे में जिस तरह की खोजबीन चल रही है उसकी वजह से एस्टेरॉयड पर नज़र रखने जैसे प्रोजेक्ट काफी गौण व कमज़ोर पड़ते जा रहे हैं। ब्रिटेन, अमरीका, आस्ट्रेलिया में भी इन कार्यक्रमों का विस्तार नहीं किया जा रहा है।

यहां इस बात को भी साफ कर देना चाहिए कि 2019 तो अभी

काफी दूर है इसलिए तैयारी के लिए मौके भी हैं, लेकिन ऐसे भी मौके आते रहे हैं जब हमारे सारे 'वॉच टॉवर' को धत्ता बताते हुए छोटे ग्रह धरती के करीब से गुज़र जाते हैं और हमें इसकी सूचना काफी देर से मिलती है। उदाहरण के लिए मार्च 1989 को 400 मीटर चौड़ाई का एक छोटा ग्रह पृथ्वी की कक्षा को छूता हुआ पृथ्वी से सिर्फ छह लाख किलोमीटर की दूरी से गुज़र गया था। इस खतरे की जानकारी हमें सिर्फ उसके करीब पहुंचने के चार दिन पहले मिली थी।

बहरहाल, कुछ खगोलविद मानते हैं कि 2002 NT-7 से कोई खतरा नहीं है। यह एस्टेरॉयड भी अपने रास्ते चुपचाप चला जाएगा क्योंकि ऐसा पहले भी होता रहा है। शायद हम भी ऐसा ही चाहते हैं, आखिर हम भी दुनिया की खैरियत के लिए फिक्रमंद जो हैं।

माधव केलकर: संदर्भ पत्रिका से संबद्ध।

ज़रा सिर खुजलाइए पिछला जवाब

पिछली बार हमने आपको 10 सिक्कों का एक पैटर्न दिया था। इस पैटर्न में कई समबाहु त्रिभुज बन रहे थे। आपको सिर्फ इतना करना था कि इन सिक्कों में से कुछ सिक्के इस तरह हटाने थे कि किसी भी आकार के समबाहु त्रिभुज न बन सकें। यानी आपको ऐसे तीन बिन्दु नहीं रखने थे कि कोई समबाहु त्रिभुज बन सके। और ऐसा कम-से-कम सिक्के हटाते हुए करना था।
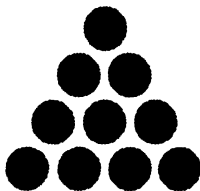
यह था वह 10 सिक्कों वाला पैटर्न
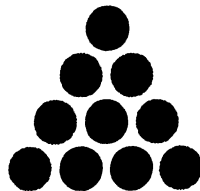
काले किए गए चार सिक्के हटा दिए जाएं तो बचे हुए सिक्कों से कोई समबाहु त्रिभुज नहीं बनेगा।

ज़रा सिर खुजलाइए

आपके पास किसी टूटी हुई जंज़ीर के पांच टुकड़े हैं। जैसा कि ऊपर के चित्र में दिखाया गया है। इन पांचों टुकड़ों को जोड़कर आपको दुबारा लंबी जंज़ीर बनाना है। वैसे सरसरी नज़र से देखा जाए तो हल काफी आसान दिखता है बस कुछ कुंदों को खोल लीजिए और सभी टुकड़ों को जोड़कर जंज़ीर बना लीजिए। तो देर किस बात की कुंदे खोल लीजिए। बस एक बात का ध्यान रखना है कि कम-से-कम कुंदे खोलना है, हो सके तो चार से भी कम।

यह सवाल प्रमोद मैथिल, इटारसी ने भेजा है।
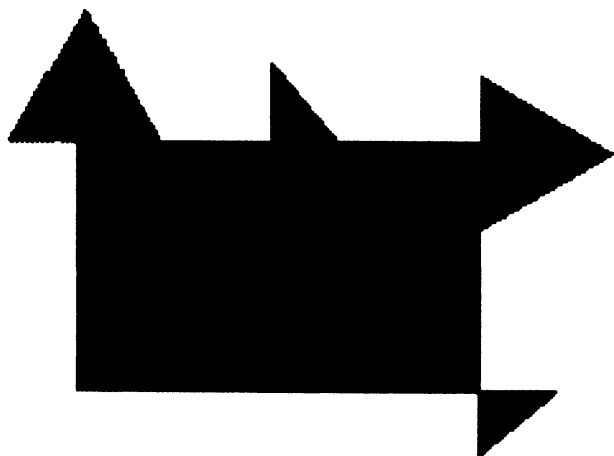
ऊपर दी गई आकृति को ध्यान से देखिए इस आकृति को इस तरह से दो हिस्सों में काटना है कि दोनों हिस्से जुड़वां आकृतियां हों।

यह सवाल साधना शुक्ला, कोटरा सुलतानाबाद, भोपाल ने भेजा है।

अपने जवाब हमारे पते पर जल्दी से लिख भेजिए।

मकड़ी फूल

अंखुड़ी कहीं, पंखुड़ी कहीं, स्त्री केसर-पुंकेसर कहीं और ही, फिर भी है फूल

कमलकिशोर कुम्भकार

आपने कौरव-पांडव का फूल तो देखा ही होगा। इनमें एकदम सलीके से अंखुड़ी, पंखुड़ी और जननांग पास-पास दिख जाते हैं। अब एक ऐसे फूल की कल्पना कीजिए जिसमें अंखुड़ी और पंखुड़ी से जननांग खासी दूरी पर क्या आप इसे फूल मानेंगे?

फूल शब्द सुनते ही हमारे दिमाग में एक सुंदर एवं चटकदार रंगों से युक्त छवि उभर आती है। फूल को थोड़ा और परिभाषित करने की कोशिश करें तो उनमें अंखुड़ी, पंखुड़ी तथा प्रजनन अंगों का मौजूद होना ज़रूरी मान सकते हैं। वैसे ये बिल्कुल भी ज़रूरी नहीं है कि ये सब अंग प्रत्येक फूल में एक साथ हों ही।

किन्तु अनेक फूल ऐसे भी होते हैं जो कम-से-कम एक सरसरी निगाह से देखने पर फूल जैसे लगते ही नहीं हैं; जबकि इनमें वे सारी रचनागत विशेषताएं मौजूद होती हैं जो उसके फूल कहलाने के लिए ज़रूरी हैं। ऐसा ही एक फूल है 'मकड़ी फूल'। इस में फूल के चारों अंग एक साथ पास-पास नहीं रहते बल्कि अलग-अलग छिटके रहते हैं; और भी ऐसे कई लक्षण हैं जिनके कारण यह फूल विशिष्ट है।

वैसे तो यह मकड़ी जैसा नहीं दिखता, पर कोई कल्पना के घोड़े ज़्यादा ही दौड़ाए तो शायद उसे यह फूल मकड़ी जैसा दिखने लगे। अमेरिका में तो इसे बाकायदा स्पाइडर फ्लॉवर यानी 'मकड़ी फूल' कहा जाता है। मालवा के इलाके में इसे 'हुरहुर' नाम से जाना जाता है। आइए, इस फूल के बारे में विस्तार से चर्चा करते हैं।

मकड़ी फूल ... ानी खरपतवार

यह वनस्पति जगत के 'केपेरीडेसी' कुल का पौधा है जो ब्रिटेन से सर्वप्रथम 1817 में रिपोर्ट किया गया। यह विश्व के अनेक भागों में पाया जाने वाला एक द्विबीजपत्री खरपतवार है जो भारत के अनेक हिस्सों में भी पाया जाता है। मालवा क्षेत्र में यह पौधा गन्ने के खेतों में या खाली पड़े स्थानों पर उगता देखा गया है।

ऐसे ही दो पौधों के वानस्पतिक नाम क्लीयोम गायनेन्ड्रा और गायनेन्ड्रेप्सिस पेण्टाफिल्ला हैं। इसके नाम में ही छुपी हुई है इसकी सारी वानस्पतिक विशिष्टता भी। किसी भी वनस्पतिविद् को यह नाम सुनते ही इसके सबसे विशिष्ट गुणों का आभास हो जाता है। जैसे प्रथम नाम 'क्लीयोम गायनेन्ड्रा' में जाति का नाम गायनेन्ड्रा शब्द इस बात का सूचक है कि इसके गायनोशियम (मादा जननांग, स्त्रीकेसर) व एन्ड्रोशियम (नर जननांग,
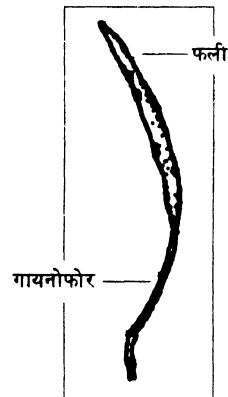
मकड़ी फूल या हुरहुर के पौधे की एक टहनी। इसकी एक संयुक्त पत्ती में पांच पत्रक हैं। इस टहनी पर फूल भी खिले हुए हैं। फूल का क्लोज़अप अगले पृष्ठ पर दिया गया है। इनसेट में हुरहुर की एक फली भी दिखाई गई है। इस पौधे की फली लगभग 6-10 सेंटीमीटर लंबी होती है और पकने पर एक धारी बनाकर लंबाई में चिटक जाती है। इसके बीज छोटे एवं गहरे भूरे रंग के होते हैं जिनकी आकृति किडनी के समान होती है।
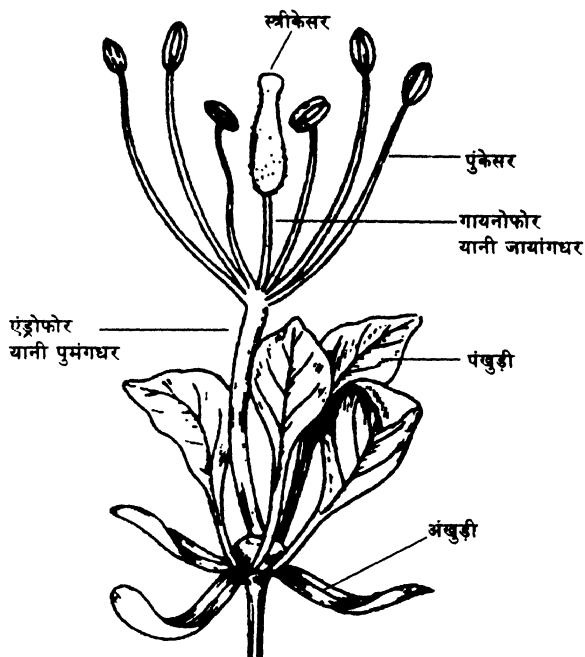
मकड़ी फूल या हुरहुर के फूल का क्लोज़अप जिसमें इस फूल के विभिन्न हिस्सों को दर्शाया गया है। फूल को देखते हुए इस बात पर गौर कीजिए कि अंखुड़ी-पंखुड़ी से पुंकेसर-स्त्रीकेसर काफी दूरी पर हैं। अपने घर के आसपास इस फूल को खोजने की कोशिश ज़रूर कीजिए, सितंबर-अक्टूबर के महीने में इस पौधे में फूल खिलते हैं।

पुंकेसर) में कुछ विशिष्टता है। यानी कि इस फूल में पुंकेसर व स्त्रीकेसर पंखुड़ी-अंखुड़ी से दूर छिटके हुए हैं। इसी प्रकार द्वितीय नाम गाय-नेन्ड्रोप्सिस पेण्टाफिल्ला तो और भी रुचिकर है। एक ओर जीनस का नाम 'गायनेन्ड्रोप्सिस' इंगित करता है कि इसके दोनों जननांगों में कोई विशिष्टता है तो दूसरी ओर, जाति के नाम 'पेण्टाफिल्ला' से पता चलता है कि इसकी एक संयुक्त पत्ती में पांच पत्रक पाए चाते हैं।

मकड़ी फूल और मेरा अनुभव

एम.एस.सी. उत्तरार्ध की कक्षा में हमें पादप वर्गिकी के सिद्धांतों को पढ़ाया जा रहा था। विषय था पौधों में रूपांतरण। पौधों के लगभग सभी अंगों में सामान्यत: रूपांतरण के उदाहरण पाए जाते हैं, जैसे आलू तने

का रूपांतरण है एवं फूल गोभी पुष्पक्रम का। इसी प्रकार फूलों को तने के अग्रभाग का ही रूपांतरित रूप माना जाता है। फूलों के अंगों के रूपांतरण में हमें 'हुरहुर' या 'मकड़ी फूल' का उदाहरण देकर बताया गया कि इसमें पौधे के नर एवं मादा जननांग एक साथ नहीं लगे होते बल्कि अलग-अलग छोटी-छोटी शाखाओं जैसी रचनाओं पर लगते हैं; जिन्हें क्रमशः एंड्रोफोर एवं गायनोफोर कहा जाता है। इसके कारण यह फूल काफी बिखरा-बिखरा-सा दिखाई देता है।

एन्ड्रोफोर पुष्प अक्ष का वह भाग है जिस पर एंड्रोशियम यानी पुमंग (पुंकेसर चक्र) लगे होते हैं, तथा यह भाग एंड्रोशियम तथा पंखुड़ियों के बीच होता है। इसी प्रकार गायनोफोर पुष्प अक्ष का वह हिस्सा है जो एंड्रोशियम की आधार संधि से निकला होता है तथा इस पर एक फ्लास्क के समान गायनोशियम यानी जायांग (स्त्रीकेसर चक्र) जुड़ा रहता है। जिस प्रकार कवकों के बीजाणु (कोनिडिया), जिस शाखा पर लगे होते हैं उसे कोनिडियोफोर कहते हैं उसी प्रकार यहां भी एंड्रोशियम व गायनोशियम को धारण करने वाले भागों को क्रमशः एंड्रोफोर तथा गायनोफोर कहा जाता है। इन शाखाओं का निर्माण पुष्प अक्ष के लंबे होने से होता है। गायनेन्ड्रोप्सिस में एंड्रोफोर और गायनोफोर दोनों होते हैं जबकि क्लीयोम में गायनोफोर नहीं होता है इसलिए इन दोनों को धारण करने वाली रचना को एंड्रोगायनोफोर कहते हैं।

अक्सर ऐसा होता है कि पाठ्यक्रम में पढ़ाई गई कई सारी वनस्पतियों को हमने अपने आसपास देखा तक नहीं होता है। हमारा उनसे परिचय किताबों में दिए गए वर्णन या चित्रों तक ही सीमित रहता है। मकड़ी फूल के साथ भी ऐसा ही कुछ हुआ था। किताब में पढ़ने के बाद मकड़ी फूल को देखने की बड़ी तीव्र इच्छा मन में उठी लेकिन अनेक प्रयासों के बाद भी यह पौधा हमें नहीं मिला। समय-समय पर इसका ज़िक्र भी होता रहा और बात लगभग आई गई हो गई। पर कहते हैं न, 'बगल में छोरा, गांव में ढिंढोरा' यही कहावत मकड़ी फूल के संदर्भ में मुझ पर चरितार्थ हो गई। मेरे घर के सामने एक स्कूल है। स्कूल के पास की खाली जगह पर अनेक पौधे उग जाते हैं। एक दिन अचानक मेरा ध्यान एक कोने में उगे पौधे पर गया तो मैं उसे देखता ही रह गया – सफेद पंखुड़ियां, फिर तने जैसा लंबा भाग, फिर एक गठान और उस पर लगे पुंकेसर, फिर ऊपर तने के समान रचना जिस पर स्थित एक फ्लास्क के आकार का अण्डाशय जिस पर घुंडीदार स्टिगमा यानी वर्तिकाग्र था। मैं एम.एस सी. में पढ़ा हुआ वर्णन दोहराता सोचने लगा – क्या यह एंड्रोफोर व गायनो-

फोर वाला रूपांतरण है? चूंकि मैं पक्के तौर पर नहीं कह सकता था इसलिए उस पौधे की फूल वाली एक टहनी लेकर मैं विक्रम विश्वविद्यालय के पादपवर्गिकी विशेषज्ञ प्रोफेसर वी. पी. सिंह के पास गया। जब उन्होंने बताया कि यह मकड़ी फूल ही है तो मेरे अंदर एक अजीब-सा रोमांच भर गया।

बाद में मैंने इस फूल के बारे में और अध्ययन किया और जो रोमांचक जानकारी सामने आई वह इस प्रकार है।

मकड़ी फूल: स्वभाव एवं पहचान

हुरहुर, एक शाकीय, एक वर्षीय एवं शाखित तने वाला पौधा है जिसकी ऊंचाई 50-100 सेंटीमीटर तक हो सकती है। इसके तने व पत्तियों पर चिपचिपी ग्रंथियों से युक्त रोम तथा इसकी अरुचिकर गंध भी पहचान में महायक होती है। साथ ही डण्ठल युक्त पत्तियां होती हैं जिसके पांच डण्ठल रहित पत्रक होते हैं।

इसका फूल अक्सर सफेद या हल्के बैंगनी रंग का होता है। फूल में नर एवं मादा जननांग उपस्थित होते हैं इसलिए इसे द्विलिंगी फूल माना गया है। दोनों सहायक भाग अंखुड़ी व पंखुड़ी (केलिक्स व कोरोला) चार-चार की संख्या में होते हैं। केलिक्स हरे एवं कोरोला सफेद या बैंगनी होते हैं।

यह दूरियां क्यों होती हैं?

किसी भी सामान्य फूल को देखा जाए तो वह अंखुड़ी, पंखुड़ी, पुमंग व जायांग का एक संयुक्त, संघनित एवं आकर्षक रूप होता है। इन सभी अंगों में एक गठबंधन रहता है तथा सामान्यत: एक-दूसरे के बीच की दूरी अत्यंत कम होती है; किन्तु हुरहुर के फूल में इन अंगों के बीच की दूरी ही सबसे बड़ी वानस्पतिक विशिष्टता है। इनके बीच की दूरी के कारण फूल में बिखराव-सा दिखाई देता है।

जैसा कि हमने पहले भी कहा है कि हुरहुर एक खरपतवार है। खरपतवार यानी अनचाही वनस्पति। भले ही इसे अनचाही कहा जाए फिर भी हुरहुर में एक-दो औषधिय गुण हैं। मसलन इसके बीजों व पत्तियों का प्रयोग पेट के कीड़ों को मारने में किया जाता है। दूसरा, इसकी पत्तियों को कण्डों पर भूनकर इसका रस कान-दर्द होने पर डाला जाता है।

आप भी अपने घरों के आसपास मकड़ी फूल उर्फ हुरहुर को खोजने की कोशिश ज़रूर कीजिए। और इस मौसम में तो इसे खोजना भी आसान है क्योंकि हुरहुर के अनूठे फूल बरसात की समाप्ति से लेकर शीत ऋतु की शुरुआत तक दिख जाते हैं।

कमलकिशोर कुम्भकार: एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम से जुड़े हैं व उज्जैन में रहते हैं।

खिसकती जाए ज़मीं आहिस्ता...आहिस्ता
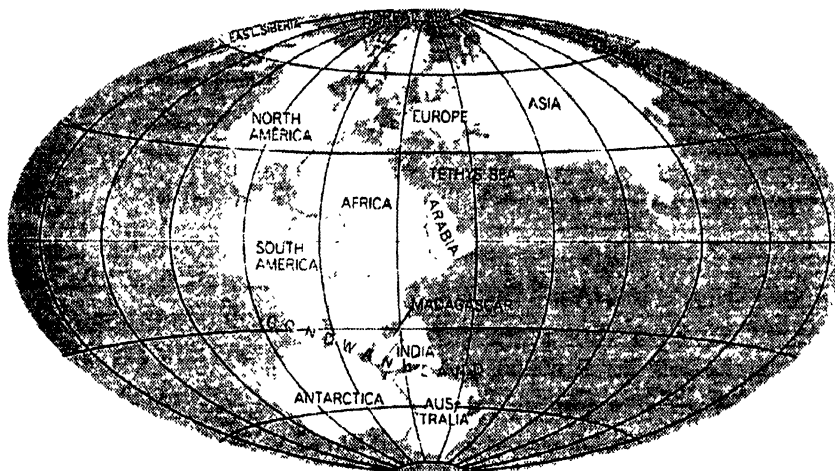
स्टीफन जे. गूल्ड

उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशकों में वैज्ञानिक हल्कों में धरती पर महाद्वीप और समुद्र के वितरण को लेकर बहस चल पड़ी थी। कुछ लोगों का मानना था कि महाद्वीप हमेशा से स्थिर रहे हैं इसलिए समुद्र का भी अपना बंधा-बंधाया इलाका रहा है। वहीं कुछ लोग महाद्वीपों के घुम्मकड़ होने के अंदाज़ लगा रहे थे। इस तरह वैज्ञानिक दो खेमों में बंटे हुए थे। 1911 में अल्फ्रेड वेगनर ने कुछ सिलसिलेवार अध्ययन और आंकड़ों की मदद से बताया कि एक समय दुनिया के सभी महाद्वीप दो समूहों के रूप में आपस में जुड़े हुए थे। बाद में इन समूहों से महाद्वीप अलग हुए और मौजूदा पड़ाव पर पहुंचे हैं। महाद्वीपों को खिसकाने वाले बल

के संबंध में वेगनर का मानना था कि सूरज-चांद द्वारा लगाए जाने वाले गुरुत्वाकर्षण बल के कारण विशालकाय महाद्वीप खिसक रहे थे।

1925 में ब्रिटिश साइंटिस्ट हैराल्ड जैफरी ने अपनी गणनाओं के आधार पर बताया कि सूरज-चांद के गुरुत्वाकर्षण बल से महाद्वीपों का खिसकाव असंभव है। जैफरी के इतने साफ शब्दों में बता देने के बाद यूरोप-अमरीकी भूवैज्ञानिकों ने महाद्वीपों के खिसकाव को खास तवज्जो नहीं दी। 1940 तक खिसकाव सिद्धांत के सभी प्रमुख समर्थक दक्षिणी गोलार्द्ध (खासकर ऑस्ट्रेलिया, द. अफ्रीका) के वैज्ञानिक थे। लेकिन इन वैज्ञानिकों के विचारों को मुख्यधारा के वैज्ञानिक हल्कों में गंभीरता से नहीं लिया जाता था।

द्वितीय विश्वयुद्ध खत्म होने के बाद 1950 के दशक में धरती की अंदरूनी बनावट पता करना, गहरे समुद्रों में ड्रिलिंग करके चट्टानों के नमूने इकट्ठा करना, चट्टानों में पुराचुंबकत्व (Paleomagnetism) पता करना जैसे काम काफी सहज हो गए थे। खोजबीन के इस दौर में यह पता चला कि समुद्र की तली में लगातार फैलाव होता है – नया तल बनता है और पुराना नष्ट हो जाता है। इसी समय यह भी पता चला कि धरती की ऊपरी परत मोटे तौर पर सात प्लेट्स से मिलकर बनी है, इन प्लेट्स पर समुद्र के अलावा महाद्वीप भी मौजूद हैं। प्लेट्स का अध्ययन करते हुए ही महाद्वीपों को खिसकाने वाले बल के बारे में भी पता चला और आज दुनिया में 'प्लेट टेक्टॉनिक्स' के सिद्धांत के पैर अच्छे से जम गए हैं।

सिद्धांतों के संबंध में हमारा यह अनुभव नया नहीं है। इससे भी पहले ऐसा होता आया है कि कोई सिद्धांत जन्म लेता है, कुछ व्याख्याएं देता है, विरोध सहता है, स्थापित होता है, कीर्ति पताका फहराता है और समय गुज़रने के साथ इतिहास बन जाता है।

प्लेट टेक्टॉनिक्स सिद्धांत के सिरमौर बनने से शायद ही किसी को कोई दिक्कत हो। लेकिन सवाल यह है कि जिन तथ्यों-आंकड़ों का इस्तेमाल करते हुए, प्लेट टेक्टॉनिक्स सिद्धांत के

ज़रिए महाद्वीपों के खिसकाव को सच साबित किया गया, वे तथ्य-आंकड़े पचास साल पहले भी मौजूद थे। सिद्धांतों के सत्यापन में नई-नई तकनीकी खोजें तो सहायक होती ही हैं, लेकिन विज्ञान में वे कौन-सी ताकतें होती हैं जो तथ्यों को स्वीकारती हैं, नकारती हैं, शोध की दिशाएं तय करती हैं और अगर ज़रूरत पड़े तो गहरे में दफन किए तथ्यों को भी निकालकर बतौर सबूत पेश करती हैं? 'वैज्ञानिक प्रक्रिया' की आमतौर पर मान्य समझ के ऊपर सवाल उठाता है स्टीफन जे. गूल्ड का यह लेख। गूल्ड इस सदी के प्रमुख विकास वादियों में से एक थे जिनका मई 2002 में निधन हो गया है। यह लेख उनके लेखन कौशल की एक बानगी है।

बात उन दिनों की है जिन दिनों नई डार्विनी सोच का डमरू यूरोप के गगन में ज़ोरों से बज रहा था। उन्हीं दिनों इस सोच के सबसे मुखर विरोधी भ्रूणविज्ञानी कार्ल अर्न्स्ट बेयर ने थोड़ा तल्खी से कहा था, "प्रत्येक सफल सिद्धांत तीन चरणों से होकर गुज़रता है – पहला कदम उसे असत्य बता ठुकरा देता है, दूसरी पायदान पर उसे धर्म के विरुद्ध ठहराकर तिरस्कृत किया जाता है और तीसरे चरण में उसे खुद धर्म का रुतबा हासिल हो जाता है। यह रुतबा हासिल होने के बाद हर वैज्ञानिक यही दावा करता है कि उसने तो सिद्धांत के सत् को बहुत पहले ही ताड़ लिया था।"

मेरा पाला महाद्वीपीय खिसकाव (Continental Drift) के सिद्धांत से सबसे पहले तभी पड़ा था जब वह पायदान नंबर दो की तहकीकात से गुज़र रहा था। इस सिद्धांत की ज़ोर-शोर से वकालत करने वालों में से एक जीवाश्मविद् केनेथ केस्टर, मेरे कॉलेज, एंटिओक कॉलेज, व्याख्यान देने आए थे। यूं तो हमारी गिनती रूढ़िवादी समूहों में कतई नहीं की जाती थी, फिर भी हम में से अधिकांश लोग केस्टर के विचारों को अपने गले से नीचे न उतार पाए थे, हम सबने उनके विचारों को खब्ती समझकर दरकिनार कर दिया। (चूंकि अब मैं बेयर की बताई तीसरी पायदान पर आ पहुंचा हूं इसलिए अपनी उजली यादों के सहारे कह सकता हूं कि केस्टर ने मेरे भीतर अनास्था के ढेरों बीज बो दिए थे।)

इसी तरह मुझे याद आता है कि कुछ सालों बाद कोलंबिया यूनिवर्सिटी में अपनी स्नातकीय पढ़ाई के दौरान महाद्वीपीय खिसकाव के समर्थक एक ऑस्ट्रेलियाई विज़िटिंग प्रोफेसर के प्रति हमारे भूविज्ञान के प्रतिष्ठित प्राध्यापक

ने पूर्वाग्रह पूर्ण उपहास किया था। उस उपहास के बाद वहां मौजूद छात्र-समूह में उपजे कटाक्ष भरे ठहाकों का उठना आज भी मुझे याद है। (आज तीसरी पायदान पर होने की वजह से मुझे ऐसा याद पड़ता है कि यह घटना मज़ाकिया ज़रूर थी परन्तु बेहूदगी भरी थी।) परन्तु मैं अपने उन प्राध्यापक के प्रति आदर के रूप में यह भी दर्ज़ करना चाहता हूं कि अगले दो साल के दौरान ही उनका मत पूरी तरह बदल गया और उन्होंने अपने जीवन के बाकी साल अपने तब तक के कार्य को नये सिरे से करने में बिताए।

और, आज सिर्फ दस साल बाद आलम यह है कि मेरे अपने विद्यार्थी महाद्वीपीय खिसकाव को नकारने वाले को इससे भी ज़्यादा हिकारत से निहारेंगे। अब असल मुद्दा यह है कि इतने छोटे समय में इतना भारी बदलाव कैसे आ गया?

अधिकांश वैज्ञानिक, कम-से-कम सार्वजनिक तौर पर तो, 'वैज्ञानिक पद्धति' नामक अचूक प्रक्रिया की दुहाई देते हुए दावा करते हैं कि इसी राह पर, लगातार आंकड़े इकट्ठा करते हुए, उनका पेशा सच की ओर आगे बढ़ता जाता है। अगर यह सही होता तो मेरे सवाल का जवाब काफी आसानी से मिल जाता। उनके अनुसार, दस साल पहले जो भी तथ्य मौजूद थे वे महाद्वीपीय खिसकाव के विरुद्ध जा रहे थे। लेकिन उसके बाद से हमने और बहुत कुछ सीखा है और अपनी धारणाओं को उसी हिसाब से बदला है। लेकिन मेरी दलील है कि 'वैज्ञानिक पद्धति' की यह परिभाषा आमतौर पर तो अनुपयुक्त है ही, परन्तु इस मामले विशेष में तो यह बिल्कुल ही गलत है।

दो उदाहरणों के ज़रिए

विश्वव्यापी नकारात्मक रुख के दौरान भी महाद्वीपीय खिसकाव के प्रत्यक्ष साक्ष्य, यानी हमारे महाद्वीपों की सतहों पर मौजूद चट्टानों से मिले आंकड़े व तथ्य उतने ही पुख्ता थे जितने कि आज। इन आंकड़ों के साक्ष्य को अस्वीकार किए जाने की वजह यह थी कि कोई भी हमारे महाद्वीपों को प्रत्यक्षतः ठोस दिखने वाले समुद्र तल में धंसकर आगे बढ़ने का तरीका नहीं सुझा पाया था। ऐसे किसी युक्तिसंगत ढांचे की अनुपस्थिति ने महाद्वीपीय खिसकाव के ख्याल को ही 'बेतुका' ठहरा दिया। रही बात महाद्वीपीय खिसकाव की इस अव-धारणा की पुष्टि करने वाले आंकड़ों की उन्हें समझने के तो कई तरीके और तर्क सोचे जा सकते थे। और अगर ये तमाम तर्क अस्वाभाविक या मनगढंत लगते भी थे, तो वे इतने भी अनहोने नहीं लगते थे जितना कि इनका विकल्प यानी महाद्वीपीय

खिसकाव की वकालत करती दलीलें।

पिछले दशक में हमने कुछ नए आंकड़े जुटाए हैं – अब की बार समुद्री बेसिन से। इन नए आंकड़ों, भरपूर रचनात्मक कल्पनाशीलता और धरती की अंदरूनी बनावट की ज़्यादा बेहतर समझ – इन सब के मेल से सामने आया ग्रहीय गतिकी (Planetary Dynamics) का नया सिद्धांत। प्लेट टेक्टॉनिक्स के इस सिद्धांत को अगर मान लिया जाए तो महाद्वीपीय खिसकाव उसका एक स्वाभाविक परिणाम है। किसी समय दरकिनार किए गए महाद्वीपीय चट्टानों से प्राप्त आंकड़ों को, ससम्मान बाहर निकाल अब महाद्वीपीय खिसकाव के निर्णायक प्रमाण के बतौर पेश किया जा रहा है। संक्षेप में, आज हमने महाद्वीपीय खिसकाव को स्वीकार कर लिया है क्योंकि नई रूढ़ि की यह अपेक्षा है।

इसे मैं वैज्ञानिक प्रगति की एक सामान्य कथा मानता हूं। पुराने सिद्धांतों की रोशनी में, पुराने तरीके अपनाते हुए जुटाए गए और खूब सारे तथ्य शायद ही कभी वैचारिक बदलाव की बुनियाद खड़ी करते हैं। तथ्य कभी 'अपने आप नहीं बोलते', वे तो हमेशा सिद्धांत की जुबान से ही अपनी कथा कहते हैं। कला की ही तरह, विज्ञान में भी बदलती विचारधारा के पीछे सृजनशील विचार ही होते हैं। विज्ञान मूलतः एक मानवीय उपक्रम है, तर्कसंहिता के रास्ते वस्तुनिष्ठ जानकारी के किसी यांत्रिक रोबोटनुमा संचय को निश्चित नियमों में बदल देने का खेल नहीं। महाद्वीपीय खिसकाव के 'प्रामाणिक आंकड़ों' के दो उदाहरणों की मदद से मैं इस बात को समझाने की कोशिश करता हूं। महाद्वीपीय खिसकाव को नकारने के दौर में दबा दी गई इन दो पुरानी दास्तानों को यहां दोहराते हैं:

I

पेलियोज़ोइक ग्लेसिएशनः

तकरीबन 24 करोड़ साल पहले, वर्तमान दक्षिण अमेरिका, अंटार्कटिका, अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया व भारत हिमनदों (ग्लेशियर) से ढंके हुए थे। अगर महाद्वीपों को स्थिर माने तो ग्लेशियरों का यह फैलाव बहुत-सी कठिनाइयां खड़ी करता है:

अः दक्षिण अमेरिका के पूर्वी हिस्सों में चट्टानों पर हिमनदों के बहाव से बनी धारियों का विन्यास दर्शाता है कि धरती पर ग्लेशियर आज के एटलांटिक महासागर से होकर उतरे। (चट्टानों पर ये धारियां ग्लेशियर में मौजूद पत्थरों के टुकड़ों की खरोंचों से बनती हैं।) दुनिया के सब महासागर एक समूचा तंत्र बनाते हैं, और उष्णकटिबंधीय (Tropical) इलाकों से ऊष्मा के लगातार परिवहन की वजह से खुले
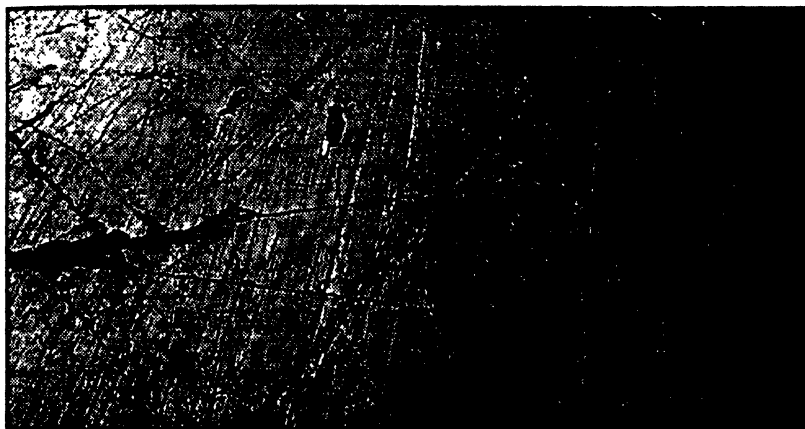
तकरीबन 29 करोड़ से 23 करोड़ साल पहले गोंडवाना के काफी बड़े इलाके पर बर्फ की चादर फैली हुई थी, बर्फ की नदियां (ग्लेशियर) बह रही थीं। ग्लेशियर में शामिल चट्टानों के टुकड़े ग्लेशियर के साथ चलते हुए उनके नीचे स्थित ज़मीन व चट्टानों पर खरोंच के निशान बनाते हुए आगे बढ़ते हैं। चित्र में दक्षिणी अमरीका की एक चट्टानी परत को दर्शाया गया है जिस पर हिमनद द्वारा बनाए खरोंचों के निशान दिख रहे हैं। इन खरोंचों के सूक्ष्म अध्ययन से यह मालूम हो जाता है कि हिमनद के बहाव की दिशा क्या रही होगी। भारत के कई हिस्सों पर भी उस समय बर्फ की चादर बिछी हुई थी। उड़ीसा में तालचर नामक जगह पर हिमनद द्वारा चट्टानों पर बनाए खरोंचों के निशान और गोलाकार पत्थरों के ढेर बहुतायत में मिले हैं। आज उड़ीसा को देखकर यह सोचना भी मुश्किल है कि वहां किसी समय हिमनदियां बहती थीं, जैसी आज हिमालय पर हैं!

समंदर का कोई भी बड़ा हिस्सा जमकर बरफ में तब्दील नहीं हो सकता।

ब: अफ्रीकी ग्लेशियर उन इलाकों में थे जो आज उष्णकटिबंधीय हैं।

स: भारतीय ग्लेशियर उत्तरी गोलार्ध के अर्ध-उष्णकटिबंधीय (Semi Tropical) इलाकों में विकसित हुए होंगे। इसके अलावा उनकी धारियां इंगित करती हैं कि उनका स्रोत उष्णकटिबंधीय हिन्द महासागर की धाराओं में था।

द: किसी भी उत्तरी महाद्वीप पर ग्लेशियर न थे। अब अगर पृथ्वी उष्णकटिबंधीय अफ्रीका को जमा देने जितनी ठंडी हो गई थी तो उत्तरी कनाडा या साइबेरिया में ग्लेशियर क्यों नहीं पाए गए?

ये सारी-की-सारी कठिनाइयां एकदम हल हो जाती हैं यदि इस बर्फीले काल
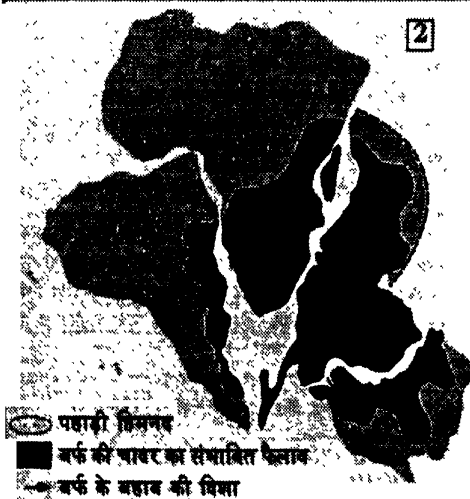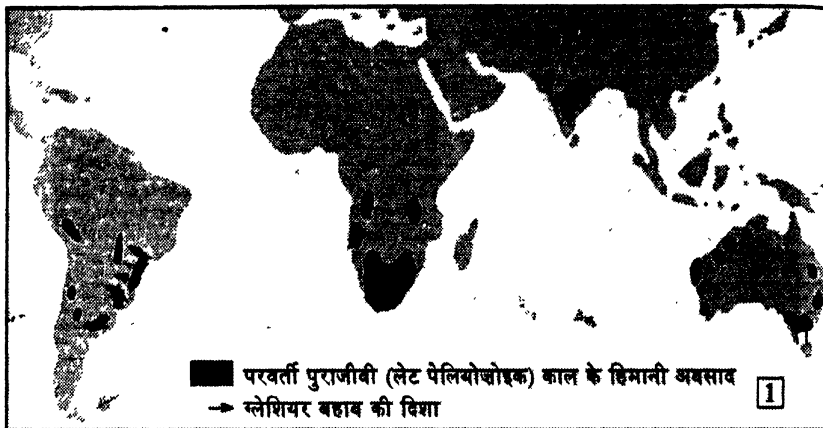
पहले मानचित्र में महाद्वीपों की मौजूदा स्थिति को दर्शाया गया है। इन महाद्वीपों पर तकरीबन 25-30 करोड़ साल पहले हिमनदों द्वारा जमा किए गए अवसाद (Sediments) भी दिखाए गए हैं। इन अवसादों के साथ एक और महत्वपूर्ण बात इंगित की गई है – वह है इन हिमनदों के बहाव की दिशा।

आज के मानचित्र पर अवसादों के इस वितरण को समझने के लिए दूसरे मानचित्र में 30 करोड़ साल पुरानी स्थिति निर्मित करने की कोशिश की गई है जब अफ्रीका, दक्षिण अमरीका, भारत, ऑस्ट्रेलिया और अंटार्कटिका एक साथ मिलकर गोंडवाना समूह बनाए हुए थे जो उस समय दक्षिण ध्रुव के ऊपर स्थित था। इन दोनों नक्शों को यदि जोड़कर देखा जाए तो यह स्पष्ट होता है कि दरअसल 25–30 करोड़ साल पहले ग्लेशियरों का बहाव एक केन्द्र बिन्दु से ही चारों ओर हुआ है।

में (भारत सहित) सभी दक्षिणी महाद्वीप एक-दूसरे से जुड़े हों तथा यह भूखंड भूमध्यरेखा से दूर दक्षिण में स्थित हो, दक्षिणी ध्रुव के ऊपर। ऐसी स्थिति में दक्षिण अमेरिकी ग्लेशियर अफ्रीका से आगे बढ़े, न कि एक खुले समंदर मे। 'उष्णकटिबंधीय' अफ्रीका और 'अर्ध-उष्णकटिबंधीय' भारत दक्षिणी ध्रुव के करीब थे; उत्तरी ध्रुव एक बड़े सागर के बीच में स्थित था जिसकी वजह से ग्लेशियर उत्तरी गोलार्द्ध में विकसित न हो सके। महाद्वीपीय खिसकाव के हिसाब से ये मभी व्याख्याएं एकदम फिट बैठती हैं, आज तो इस पर किसी को शक ही नहीं होता है।

II

ट्राइलोबाइट का वितरण

कैम्ब्रियन ट्राइलोबाइट्स (50 से 60 करोड़ साल पहले रह रहे जीवाश्मी आर्थोपॉड्स) का वितरण। यूरोप व उत्तर अमेरिका के कैम्ब्रियन ट्राइलोबाइट्स ने खुद को दो अलग-अलग जंतु समूहों (Faunas) में विभाजित कर लिया। इनका वितरण आधुनिक नक्शों पर विचित्र-सा दिखाई देता है।

'एटलांटिक' ट्राइलोबाइट्स के जीवाश्म समूचे यूरोप के साथ-साथ उत्तरी अमेरिका के सुदूर पूर्वी तट के चंद इलाकों में भी मिले हैं; जैसे पूर्वी न्यूफाउंडलैंड और दक्षिण-पूर्वी मेसेच्यूसेट्स में।

जबकि 'प्रशांतीय' ट्राइलोबाइट्स समूचे अमरीका के साथ-साथ यूरोपीय महाद्वीप के सुदूर पश्चिम के कुछ इलाकों में पाए गए हैं। उदाहरण के लिए उत्तरी स्कॉटलैंड और उत्तर-पश्चिमी नॉर्वे। अब यदि ये दोनों महाद्वीप हमेशा ही एक-दूसरे से तीन हज़ार मील दूर रहे हों तो ट्राइलोबाइट्स के उपरोक्त प्रसार को समझ पाना वाकई एक दुष्कर कार्य है।

लेकिन महाद्वीपीय खिसकाव के चलते एक उम्दा समाधान सुझाई पड़ता है। कैम्ब्रियन युग में यूरोप व उत्तर अमेरिका अलग-अलग थे। उस समय एटलांटिक ट्राइलोबाइट्स यूरोपीय ज़मीं के चहुं ओर बहती समुद्री धाराओं में मौजूद थे जबकि पैसिफिक ट्राइलोबाइट्स अमेरिका के चौतरफ समुद्र में जी रहे थे। तत्पश्चात दोनों महाद्वीप (तलछटी चट्टानों में समाधिस्थ ट्राइलोबाइट्स समेत) एक-दूसरे की ओर खिसकने लगे और अंततः एक-दूसरे से आ जुड़े। मिलन के बाद फिर जुदाई हुई, यानी दोनों महाद्वीप खिसक-खिसक कर एक-दूसरे से फिर अलग हो गए। लेकिन इस बार ठीक उन्हीं जोड़ों से नहीं जहां ये पहले मिले थे। पश्चिमी यूरोप का कुछ हिस्सा अमेरिका के पूर्वी हिस्से के साथ चला

गया, इसी तरह पूर्वी अमेरिका का कुछ हिस्सा पश्चिमी यूरोप में ही रह गया।

* * *

उपरोक्त दोनों उदाहरण वैसे तो आज 'खिसकाव' के सबूत के बतौर धड़ल्ले से पेश किए जाते हैं लेकिन एक समय ऐसा भी रहा जब इन्हें पूरे तौर से नकारा गया। इसलिए नहीं कि आंकड़े या जानकारी अधूरी थी बल्कि इसलिए क्योंकि महाद्वीपों को चलायमान रखने का संभव तरीका अभी तक कोई भी सुझा नहीं पाया था। सभी मूल खिसकाववादियों का मानना था कि महाद्वीप एक स्थिर समुद्री तल में अपना रास्ता बनाते हुए आगे बढ़ते जाते हैं। महाद्वीपीय खिसकाव के सिद्धांत की सबसे पहली वकालत करने वाले अल्फ्रेड वेगनर का तर्क था कि केवल गुरुत्व ही महाद्वीपों को चलायमान बना सकता है। उदाहरण के लिए महाद्वीप आहिस्ता-आहिस्ता पश्चिम की ओर खिसकते हैं क्योंकि
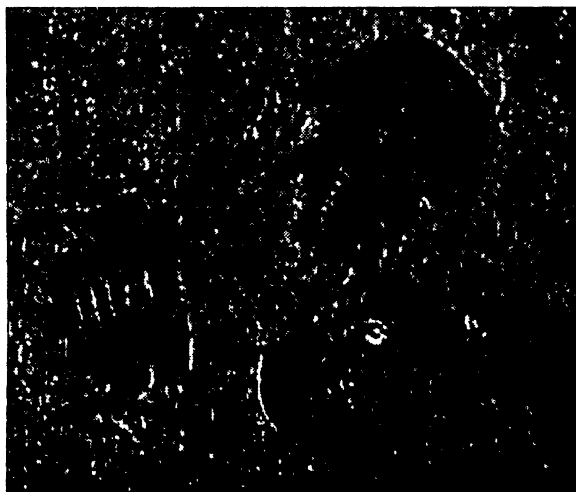
ओलेनेलस ट्राइलोबाइट जीवाश्म: दुनिया के प्राचीनतम ट्राइलोबाइट में से एक हैं ओलेनेलस। ये स्कॉटलैंड (यूरोप) और न्यूफाउंडलैंड (अमरीका) की लगभग 55 करोड़ साल पुरानी चट्टानों में पाए गए हैं। उस समय अमरीका और यूरोप आपस में जुड़े हुए नहीं थे। इसके बाद अमरीका और यूरोप एक-दूसरे के करीब आए और आपस में जुड़ गए। कुछ करोड़ साल बाद अमरीका और यूरोप एक-दूसरे से फिर अलग हुए। इस बार विभाजन रेखा बिल्कुल वो नहीं थी जो संधि के समय थी। फलस्वरूप ओलेनेलस के जीवाश्म यूरोप के पश्चिमी हिस्से में और अमरीका के पूर्वी इलाकों में पाए जाते हैं।
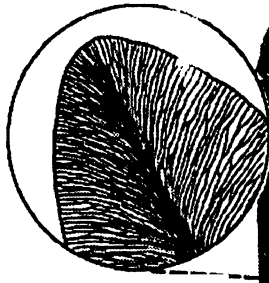
पत्तियों की छाप: ऑस्ट्रेलिया की 30 करोड़ साल पुरानी चट्टानों में पत्तियों के जीवाश्म मिले हैं। ये पत्तियां वनस्पतियों के जिस समूह का प्रतिनिधित्व करती हैं उन्हें ग्लॉसॉप्टेरिस वनस्पति कहा जाता है। ये वनस्पतियां ऑस्ट्रेलिया, दक्षिण अमरीका, दक्षिण अफ्रीका और भारत में एक ही समय की चट्टानों में जीवाश्मों के रूप में पाई जाती हैं। महाद्वीपों के खिसकाव के समर्थक और विरोधियों ने अपनी-अपनी दलीलों को पुख्ता ढंग से पेश करने के लिए ग्लॉसॉप्टेरिस के जीवाश्मों का जमकर इस्तेमाल किया था। भारत में मुख्य रूप से बंगाल, बिहार, झारखंड, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़ आदि राज्यों में गोंडवाना समूह की कोयले की परतों और अन्य चट्टानों में ग्लॉसॉप्टेरिस वनस्पतियों के जीवाश्म पाए जाते हैं।

सूर्य-चंद्र के आकर्षण बल उन्हें ऊपर को खेंचे रहते हैं, जबकि उनके नीचे की धरती अपनी चाल से घूम रही होती है।

प्रत्युत्तर में भौतिक शास्त्रियों ने गणनाओं के आधार पर साबित किया कि गुरुत्वाकर्षण बल इतना कमज़ोर है कि इतने भारी भरकम, इतने विशाल महाद्वीपों को नहीं धकेल सकता। वेगनर के दक्षिण अफ्रीकी समर्थक एलेक्सिस दयू तॉइ (Alexis du Toit) ने एक अलग ही सुझाव सामने रखा। उसका कहना था कि महाद्वीपीय किनारों पर रेडियोधर्मिता की वजह से समुद्री तल पिघल जाता है जिससे महाद्वीप आगे की ओर सरक पाते हैं। ऐसी परि-कल्पनाओं ने वेगनर के सुझाव की विश्वसनीयता बढ़ाने में बिल्कुल भी मदद नहीं की।

अब चूंकि किसी संभव तरीके के

बगैर खिसकाव का ख्याल ही बेतुका नज़र आ रहा था इसलिए सारे रूढ़िवादी भूवैज्ञानिक यह साबित करने में जुट गए कि महाद्वीपीय खिसकाव का समर्थन करते दिखने वाले ये सब साक्ष्य एक-दूसरे से स्वतंत्र संयोग भर हैं।

महाद्वीपों को जोड़ने वाले पुल

1932 में, प्रसिद्ध भूवैज्ञानिक बेली विलिस ग्लेशियरों के साक्ष्य को स्थिर महाद्वीपों के आधार पर समझाने में जुट गए। इस उद्देश्य से उसने 3000 मील चौड़ाई वाले महासागर को खूब सारे संकरे स्थल-सेतुओं से पाट दिया। एक पुल उसने पूर्वी ब्राज़ील व पश्चिमी अफ्रीका के बीच डाला, दूसरा अफ्रीका से मालागेसी गणराज्य के रास्ते सुदूर भारत तक और तीसरा बोर्निओ व न्यू गिनी होते वियतनाम से ऑस्ट्रेलिया तक।

उसके सहयोगी 'येल' के प्रोफेसर चार्ल्स शुखर्ट ने एक पुल ऑस्ट्रेलिया से अंटार्कटिका और दूसरा पुल अंटार्कटिका से दक्षिण अमेरिका तक सुझाकर दक्षिणी महासागर का बाकी दुनिया के महासागरों से अलगाव पूरा कर दिया। ऐसा अलग-थलग समंदर दक्षिणी छोर पर बर्फ में तब्दील हो सकता है और नतीजतन वहां से शुरू होकर ग्लेशियर दक्षिण अमेरिका के पूर्वी छोर की ओर बह सकते हैं। इसकी ठंडी जल धाराएं दक्षिणी अफ्रीका के ग्लेशियरों का भी पोषण करेंगी।

जबकि भूमध्य रेखा से 3000 मील ऊपर मौजूद भारतीय ग्लेशियरों की व्याख्या किसी अन्य तरीके से ही हो सकती थी। विलिस ने लिखा "इन घटनाओं के बीच किसी भी तरह के प्रत्यक्ष संबंध की कोई भी तर्कसंगत कल्पना नहीं की जा सकती। सामान्य कारण व स्थानीय भौगोलिक व टोपोग्राफिक परिस्थितियों के हिसाब से ही इस पर विचार किया जाना चाहिए।" अब विलिस के खोजी दिमाग का भी भला क्या सानी। भारतीय ग्लेशियरों की व्याख्या के लिए उसने बस एक ऐसी ऊंची स्थलाकृति का सुझाव दिया जिससे दक्षिण से आने वाली गर्म, नम हवाएं घनीभूत होकर बर्फ की शक्ल में बरसें। अब उत्तरी गोलार्द्ध के शीतोष्ण व बहुत ठंडे अतिशीतल, आर्कटिक क्षेत्रों के हिस्सों में बर्फ की अनुपस्थिति की व्याख्या विलिस ने समुद्री धाराओं के एक ऐसे तंत्र की रचना के आधार पर की; उसका मानना था कि "समुद्री सतह के ठंडे पानी के नीचे गर्म पानी की धाराएं उत्तर की ओर बह रही थीं, जो आर्कटिक क्षेत्र में ऊपर उठकर, सतह पर आकर वहां के तंत्र को गर्मा देती थीं।" इन सेतुओं द्वारा सुझाए समाधान से शुखर्ट ने चैन की सांस ली।

इन तमाम ज़मीनी सेतुओं की एक मात्र साझा विशेषता थी उनका नितांत

काल्पनिक होना। कोई भी प्रत्यक्ष प्रमाण इन सेतुओं की मौजूदगी का समर्थन नहीं करता था। लेकिन कहीं आपको ऐसा न लगे कि इन सेतुओं के समर्थकों ने रूढ़िवादी सिद्धांतों को बचाने के लिए कोरी कपोल-कल्पनाएं रच डाली; इसलिए मैं यहां स्पष्ट कर दूं कि विलिस, शुखर्ट और तीस के दशक के किसी भी तर्कप्रिय भूवैज्ञानिक को हज़ारों मील लंबे काल्पनिक ज़मीनी सेतुओं के मुकाबले स्वयं महाद्वीपीय खिसकाव का विचार कहीं दसियों गुना बेतुका लगता होगा।

ऐसी अथाह उपजाऊ कल्पनाओं के होते हुए कैम्ब्रियन ट्राइलोबाइटस ने ऐसी कोई खास मुश्किल पेश न की। एटलांटिक और प्रशांतीय प्रदेशों को विभिन्न प्रकार के पर्यावरणों के रूप में सुझाया गया; न कि दो अलग-अलग जगहों के रूप में — जहां प्रशांत महासागर उथला था और अटलांटिक महासागर गहरा। कैम्ब्रियन-युगीन महासागरीय बेसिन के लिए जैसी सुहाए वैसी काल्पनिक ज्यामिति गढ़ते हुए भूगर्भशास्त्रियों ने अपने नक्शे तैयार किए जो उस समय उपलब्ध साक्ष्यों से मेल खाते थे।

नई तकनीक, नए विचार

1960 के उत्तरार्द्ध में जब महाद्वीपीय खिसकाव चलन में आया तब महाद्वीपीय चट्टानों से मिले आंकडों की उसको स्थापित करने में कोई भूमिका न थी। 'खिसकाव' तो नए साक्ष्य द्वारा समर्थित नए सिद्धांत का पोंचा पकड़कर चला आया। वेगनर का सिद्धांत भौतिक रूप से इसलिए असंभव लगता था क्योंकि उसका विश्वास था कि महाद्वीप अपना रास्ता समुद्र तल में धंसकर बनाते हुए, आगे बढ़ते हैं।

लेकिन महाद्वीपीय खिसकाव किसी और तरीके से कैसे हो सकता था? समुद्र तल, पृथ्वी की सतह — ये सब तो स्थिर ही होना चाहिए। आखिरकार, अगर महाद्वीप रूपी ये टुकड़े पृथ्वी की सतह पर सुराख छोड़े बिना इधर-उधर सरकें, तो ये जाएंगे कहां? मामला एकदम स्पष्ट लगता है। या फिर कोई तरीका है क्या, ऐसा कोई तरीका जो हम अभी तक सोच ही नहीं पाए थे?

अक्सर हमारे सिद्धांत ही 'असंभव' को परिभाषित करते हैं, प्रकृति नहीं। क्रांतिकारी विचारों की खासियत ही यही होती है कि उनके कदम अनजानी राहों पर पड़ते हैं।

अब अगर महाद्वीपों को समुद्र-तल में धंस के ही आगे बढ़ना है तो खिसकाव संभव नहीं है। लेकिन अगर मान कर चलें कि महाद्वीप समुद्र तल की भूपरत में फंसे हुए हैं और समुद्र तल के टुकड़ों के खिसकने के साथ-साथ खिसकते हैं तो क्या स्थिति निर्मित

होती है?लेकिन अभी-अभी तो हमने कहा कि धरती की सतह बिना छेद छोड़े आगे कैसे गतिमान हो सकती है। तो अब हम आ पहुंचे एक ऐसी अंधी गली में जहां से केवल उर्वर कल्पनाशीलता के सहारे ही उबरा जा सकता है। यहां पर अब और अवलोकन की ज़रूरत नहीं है, बल्कि हमें अपनी धरती का बुनियादी रूप से एक अलग मॉडल सोचना व प्रस्तुत करना होगा।

जहां तक ऐसे किसी मॉडल में 'खिसकाव' से उत्पन्न छिद्रों या अंतराल का सवाल है, उसे तो हम एक ऐसी अनूठी परिकल्पना से पाट सकते हैं जो तार्किक भी लगे। उदाहरण के लिए अगर समुद्र तल के दो टुकड़े एक-दूसरे से दूर होने लगें तो भी वे अपने पीछे कोई रिक्त स्थान नहीं छोड़ेंगे — यदि उस स्थान को भरने के लिए धरती के अंदर से पदार्थ ऊपर उठता रहे। इस कथन को उलटते हुए। हम और भी आगे बढ़ सकते हैं — ऐसा भी संभव है कि पृथ्वी के अंदर से ऊपर आ रहा नया पदार्थ ही संभवतः पुराने समुद्र-तल को आगे धकेल रहा हो। लेकिन चूंकि पृथ्वी बढ़ या फैल तो रही नहीं है तो फिर ऐसे इलाके भी होने ही चाहिए जहां पुराना समुद्र तल ढह कर धरती के अंतस में समा रहा हो। यानी कि सर्जन और विध्वंस का संतुलन कायम रह पाए।

दरअसल पृथ्वी की सतह दस से कम प्रमुख 'प्लेट्स' में विभक्त हुई दिखती है। इन प्लेटों के चहुं ओर सर्जन के स्थल यानी समुद्री कगारें (Oceanic Ridges) और विध्वंस के स्थल यानी खाइयां (Trenches) मौजूद हैं। इन्हीं प्लेट्स पर महाद्वीप जमे हुए हैं, और सर्जन स्थलों (समुद्र कगारों) से परे जाते समुद्री तल के संग-संग घूमते हैं। महाद्वीपीय खिसकाव अब पुराना नवाचारी रुतबा खोकर हमारी नयी रूढ़ि, प्लेट टेक्टॉनिक्स, का एक निष्चेष्ट परिणाम भर रह गया है।

फर्क सिर्फ इतना है कि अब हमारे पास एक ऐसी गतिमान रूढ़ि है जो शायद उतनी ही निश्चित एवं जड़ है, जिस स्थिरवादी रूढ़ि की जगह वह आ बैठी है। इसी के चलते, 'खिसकाव' के पुराने सब आंकडों को उत्खनित कर बतौर निर्विवाद प्रमाण पेश किया जा रहा है। जबकि घुमक्कड़ महाद्वीपों की धारणा की वैधता निश्चित करने में इन आंकड़ों की कतई कोई भूमिका नहीं रही। खिसकाव की अवधारणा की पताका तो इसलिए फहरी क्योंकि वो नए सिद्धांत के लिए ज़रूरी परिणाम बन गई थी।

नई परम्परा हमारे समस्त आंकड़ों को अपने रंग में रंग देती है। इस जटिल संसार में 'शुद्ध तथ्य' जैसी कोई चीज़ नहीं है। कुछ साल पहले जीवाश्म वैज्ञानिकों को अंटार्कटिका में लिस्ट्रोसॉरस नामक एक सरीसृप का

जीवाश्म मिला। यह दक्षिण अफ्रीका में भी रहता था और शायद दक्षिण अमेरिका में भी (शायद इसलिए क्योंकि दक्षिण अमेरिका में उस काल की चट्टानें नहीं पाई गई हैं)। अगर विलिस और शुखर्ट के सम्मुख किसी ने खिसकाव का यह तर्क पेश करने की हिमाकत की होती तो उसकी तो छुट्टी हो जाती। और ऐसा करना बिल्कुल सही भी होता। क्योंकि आज अंटार्कटिका व दक्षिण अमेरिका एक-दूसरे से कमोबेश टापुओं की श्रृंखला के ज़रिए जुड़े हैं और निश्चय ही पुराकाल में अलग-अलग समयों पर एक स्थल-सेतु के ज़रिए आपस में जुड़े थे। (समुद्र के जल-स्तर में थोड़े से घटाव मात्र से ऐसा स्थल सेतु प्रकट हो सकता है)। लिस्ट्रोसॉरस ने यह छोटा-सा सफर आसानी से तय कर लिया होगा। इसके बावजूद केवल इसी आधार पर न्यूयॉर्क टाइम्स ने संपादकीय लिखा कि इससे महाद्वीपीय खिसकाव का सिद्धांत सिद्ध होता है।

सिद्धांत की प्रमुखता या श्रेष्ठता संबंधी इस तर्क से मेरे कई पाठक विचलित हो सकते हैं। क्या इससे रूढ़िवादिता नहीं बढ़ती और तथ्य के प्रति अनादर को बल नहीं मिलता? हो सकता है, लेकिन ज़रूरी नहीं कि ऐसा ही हो। इतिहास के सबक कहते हैं कि सिद्धांतों की सत्ता प्रतिद्वंद्वी सिद्धांतों द्वारा पलटी जाती रही है – रूढ़िवादिता की चूलें कभी भी अटल नहीं होतीं। साथ ही, मैं प्लेट टेक्टॉनिकी के प्रति उत्साह को लेकर भी परेशान नहीं हूं। इसके दो कारण हैं – अव्वल तो मेरी सहज बुद्धि मुझसे कहती है कि यह सच है। दूसरे मेरी जीवटता कहती है कि यह परिकल्पना नितांत रोचक है – इतनी कि हम कह सकें कि पारम्परिक विज्ञान उन तमाम चीज़ों से कहीं ज़्यादा दिलचस्प हो सकती है जो अवैज्ञानिक विश्वास-शीलता में ईज़ाद की जाती रही हैं, जाती हैं और जाती रहेंगी........

इस लेख में इस्तेमाल किए गए चित्र मूल लेख में नहीं थे।

स्टीफन जे. गूल्ड: प्रसिद्ध जीवाश्मविद और विकासवादी जीववैज्ञानिक स्टीफन जे. गूल्ड का बचपन न्यूयॉर्क में गुज़रा। एंटियोक कॉलेज से स्नातक हुए और कोलंबिया विश्वविद्यालय से पी.एच.डी. की। वे हार्वर्ड विश्वविद्यालय में भूविज्ञान और प्राणिविज्ञान के प्रोफेसर पद पर कार्यरत थे। उन्होंने विकासवाद, विज्ञान का इतिहास, जीवाश्म विज्ञान जैसे अनेक विषयों पर निबंध लिखे हैं। उनकी कुछ प्रमुख किताबें हैं – द मिसमेज़र ऑफ मेन, हेन्स टीथ एंड हॉर्सिस टोज़, द फ्लेमिंगोज़ स्माइल, वंडरफुल लाइफ, एवर सिन्स डार्विन आदि।

अनुवाद: मनोहर नोतानी: अनुवाद कार्य में रुचि, भोपाल में रहते हैं।

यह लेख 'एवर सिन्स डार्विन' किताब से साभार।

संदर्भ के अंक 14 एवं 15 में प्लेट टेक्टॉनिक्स से संबंधित लेख प्रकाशित किए गए हैं।

सवालीराम

सवाल: पिछली दफा नम्रता रघुवंशी ने सवालीराम से प्रयोग का हवाला देते हुए एक सवाल किया था। नम्रता का प्रयोग और सवाल इस प्रकार हैं:

पिछले दिनों मैंने अपने घर पर एक प्रयोग किया। मैंने एक लोहे का टुकड़ा और एक टूटी हुई स्टील की चम्मच पौधों की क्यारियों में रख दी, कुछ दिनों के बाद लोहे के टुकड़े पर तो काफी सारी जंग लगी थी लेकिन स्टील की चम्मच वैसी की वैसी चमचमा रही थी। मेरा सवाल है कि जब स्टील की चम्मच भी लोहे से बनी है तो उसमें जंग क्यों नहीं लगता?

जवाब: आपका प्रयोग और अवलोकन काफी सराहनीय हैं। यहां सुविधा के लिए आपके सवाल के जवाब को दो हिस्सों में बांट लेते हैं। पहला – लोहे में जंग क्यों लगता है? दूसरा – स्टेनलेस स्टील में जंग क्यों नहीं लगता?

धातुओं में मज़बूती के लिहाज़ से लोहे का स्थान काफी ऊपर है लेकिन यह भी एक सच्चाई है कि लोहे में जंग लग जाए तो न केवल उस की खूबसूरती पर असर पड़ता है, साथ ही उसकी मज़बूती भी प्रभावित होती है। आपके प्रयोग के अवलोकन में यह बात सामने आई है कि लोहे में जंग तभी लगता है जब उसकी सतह नम हवा के सम्पर्क में आती है। ऐसा नहीं है कि यह सिर्फ लोहे के साथ ही होता है, ऐसी कई धातुएं हैं जो हवा के सम्पर्क में आती हैं तो उनका ऑक्सीकरण होने लगता है। अपने आसपास मौजूद कई धातुओं के साथ ऐसा होता हुआ देखा जा सकता है। मसलन घरों में बिजली के लिए इस्तेमाल होने वाले एल्यूमीनियम के तार को लीजिए। तार को इन्सुलेटिंग (कुचालक) खोल से बाहर निकाल कर देखिए, तार चमचमाता हुआ दिखाई देगा। इस तार को कुछ दिन इसी तरह खुला रहने दीजिए, फिर देखिए। तार की चमक कम हो गई होगी, साथ ही तार पर एक हल्की-सी सफेद परत भी दिखाई देगी। यह परत एल्यूमीनियम की ऑक्सीजन से क्रिया का परिणाम है। इसी तरह पीतल या तांबे के बर्तनों पर हरी परत बनती है।

अब इस सवाल पर आएं कि लोहे में जंग किस तरह लगती है? शुद्ध लोहा चमकीली और नरम धातु होती है। लोहे को अपने हिसाब से कठोर और मज़बूत बनाने के लिए उसमें कार्बन वगैरह मिलाया जाता है ताकि इस धातु का व्यावसायिक तरीके से इस्तेमाल किया जा सके। शुद्धत्तम लौह धातु, पिटवा लोहा या इस्पात – इनमें से किसी के भी संपर्क में नम हवा आने के बाद उसमें जंग लगने की प्रक्रिया शुरू हो सकती है। लोहा खुद की रक्षा नहीं कर पाता और उसकी सतह पर धीरे-धीरे पीले-मटमैले रंग दिखने लगते हैं जो क्रमशः एक पतली परत में तब्दील होने लगते हैं। जल्दी ही इससे शल्कनुमा मोटी परत बन जाती है।

उपरोक्त वर्णन में लोहे में जंग लगने की प्रक्रिया बहुत ही सरलीकृत करके समझाई गई है। वास्तव में यह काफी जटिल है जिसे पूरी तरह से समझने की कोशिशें आज भी जारी हैं। यहां एक बात बता देना लाज़मी होगा कि लोहे के दो किस्म के आयन बनते हैं फेरस (Fe^{2+}) और फेरिक (Fe^{3+})। इनमें फेरस लोहे के परमाणु की वह अवस्था है जब उसमें से दो इलेक्ट्रॉन निकल गए हों और फेरिक वह अवस्था जब लोहे के परमाणु में से तीन इलेक्ट्रॉन निकल गए हों। रसायन की शॉर्टकट भाषा में इन्हें आयरन-2 और आयरन-3 भी कहते हैं।

जंग के बारे में कहा जाता है कि यह एक किस्म की विद्युत-रासायनिक प्रक्रिया की वजह से निर्मित होता है। अब तक इसके बारे में जो भी समझ बनी है उसके मुताबिकः

– लोहे पर जंग की परत चढ़ाने के लिए ऑक्सीजन व पानी के साथ-साथ कार्बन डाइऑक्साइड भी महत्वपूर्ण कारक है।

– लोहे पर जंग लगना वहां से शुरू होता है जहां पर लोहे के फेरस आयन बन रहे हों। जहां फेरस आयन बन रहे होंगे वहां पर रासायनिक क्रिया कुछ इस तरह से होगी।

$Fe\ (s) \text{ ------> } Fe^{2+}\ (aq) + 2^{e-}$
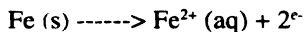
इस रासायनिक समीकरण से यह दिखता है कि इस जगह लोहे का ऑक्सीकरण हो रहा है। इसके बाद फेरस आयनों की क्रिया हाइड्रॉक्साइड आयन से होती है और फेरस हाइड्रॉक्साइड बनता है।

$Fe^{2+}(aq) + 2OH^{-}\ (aq) \text{ ------> } Fe\ (OH)_2\ (s)$
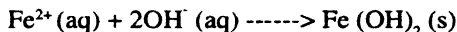
तत्पश्चात घुली हुई ऑक्सीजन फेरस हाइड्रॉक्साइड को ऑक्सीकृत करती है और एक नया पदार्थ बनाती है जिसे हम जंग कहते हैं।

$Fe\ (OH)_2\ (s)$ + घुली हुई ऑक्सीजन -------> $Fe_2O_3\ x\ H_2O$ (जंग)
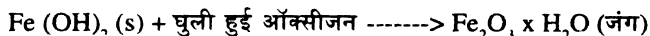
जंग की इस प्रक्रिया में कार्बन डाइऑक्साइड की भूमिका के बारे में ऐसा माना जाता है कि ऐसा पानी जिसमें कार्बन डाइऑक्साइड घुली हुई हो थोडा अम्लीय होता है। जब यह पानी लोहे के संपर्क में आता है तो लोहे से क्रिया करके फेरस आयन बनाता है। यह फेरस आयन आगे फेरस हाइड्रॉक्साइड और फिर जंग में तब्दील हो जाते हैं।

लोहे पर जंग से होने वाले नुकसान से हम लोग भली-भांति परिचित हैं। एक हद तक तो लोहा हवा-पानी के प्रति प्रतिरोध दिखाता है लेकिन उसके बाद उसमें जंग लगनी शुरू हो जाती है। लोहे को जंग से बचाने के कई तरीके ईज़ाद किए गए हैं, ताकि उसकी सतह का हवा-पानी से संपर्क टूट जाए, आइए उनमें से कुछ तरीके देखें:

– लोहे की सतह पर साधारण पेंट या रेड ऑक्साइड पेंट कर दिया जाए।

– लोहे की सतह पर तेल की परत चढ़ा दी जाए, जैसे पेंट करते हैं वैसे ही। तेल की परत भी पेंट जैसा ही काम करती है।

– लोहे की सतह पर निकिल या क्रोमियम की परत (प्लेटिंग) चढ़ाई जाए, जैसा कि साइकिल के कई पुर्ज़ों पर किया जाता है।

– गेल्वेनाइज़ेशन द्वारा। इस विधि में लोहे की वस्तुओं पर ज़िंक की परत चढ़ाई जाती है। इस विधि का लाभ यही है कि वायुमंडलीय

गैसों और नमी की क्रिया पहले ज़िंक से होती है। ज़िंक लगातार क्रिया में हिस्सा लेता रहता है और लोहे की सतह को संपर्क में आने से बचाता रहता है। ज़िंक के इस त्याग के कारण लोहा तो सुरक्षित रहता है, लेकिन यदि किसी कारण से ज़िंक की परत खुरच जाए तो भीतर के लोहे में जग लगने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। कच्चे घरों की छतों पर लगने वाली धातु की चादरें, बगीचों में पानी सींचने के लिए इस्तेमाल होने वाली झारी आदि इसके उदाहरण हैं।

— बहुत से डिब्बा बंद खाद्य पदार्थों को ज़्यादा दिनों तक सुरक्षित रखने के लिहाज़ से टिन की प्लेटिंग की हुई लोहे की पतली शीट का इस्तेमाल किया जाता है।

— एक अंतिम लेकिन काफी महत्वपूर्ण तरीका है लोहे की क्रोमियम, निकिल वगैरह के साथ मिश्रधातु बनाई जाए। 1913 में ब्रिटेन के एक धातु वैज्ञानिक हैरी ब्रेयरली बंदूक की नली के लिए उपयुक्त लोहे की मिश्रधातु की खोज कर रहा था। इस खोज के दौरान अपने बिगड़े हुए नमूने वह कचरे की तरह फेंक रहा था। कुछ दिनों बाद उसने देखा कि उस ढेर में मिश्रधातु के काफी सारे नमूनों में तो जंग लगी हुई थी लेकिन एक सेंपल चमचमा रहा था। हैरी ने उसका विश्लेषण किया तो पाया कि उस मिश्रधातु में 14 प्रतिशत क्रोमियम है। इसी के आधार पर उसने स्टेनलेस स्टील (मिश्रधातु) का निर्माण किया जिसे हवा में लंबे समय तक रहने के बाद भी जंग नहीं लगता था।

आधुनिक दौर में बनाए जाने वाले स्टेनलेस स्टील में 70% लोहा, 20% क्रोमियम तथा 10% निकिल होता है। ज़रूरत के हिसाब से स्टील में सिलिकॉन, कार्बन, मोलेबिडनम, मैंगनीज़ वगैरह की भी कुछ मात्रा मिलाई जाती है। वैसे देखा जाए तो जंग से बचाव का सबसे भरोसेमंद तरीका लोहे की मिश्रधातु बनाना है। हालांकि कीमत के हिसाब से यह खर्चीला ज़रूर है लेकिन बाकी तरीकों की तरह इसमें रखरखाव ज़्यादा नहीं है।

अब इतनी जानकारी के बाद यह समझने की कोशिश करते हैं कि स्टेनलेस स्टील पर जंग क्यों नहीं लगता। हमारी रसोई में खाने-पीने

दिल्ली का लौह स्तंभ

आपने शायद सुना होगा कि दिल्ली के कुतुबमीनार के पास का लौह स्तंभ तकरीबन 1600 साल से खुले आसमान तले खड़ा है और आज भी बिना जंग के चमचमा रहा है।

इस खंबे पर जंग न लगने की वजह खोजने के लिए वैज्ञानिकों ने तरह-तरह के शोध किए हैं एवं कारण व मॉडल सुझाए हैं। इसी वर्ष जून 2002 की करंट सायन्स पत्रिका में श्री आर. बालासुब्रह्मण्यम ने जो मॉडल सुझाया है उसके अनुसार इस लौह स्तंभ की सतह अगर खुरच दें तो लगभग पहले तीन साल तक उस जगह जंग लगने की दर काफी तेज़ होती है, क्योंकि जंग की जो परत वहां बनती है वह छिद्रयुक्त (पोरस) होती है और एक समान मोटाई की भी नहीं होती।

उनका कहना है कि इस तीन साल के शुरुआती दौर के बाद इस जंग की परत और लौह स्तंभ की सतह के बीच विभिन्न प्रकार के फोस्फेट व सुरक्षा प्रदान करने वाले ऑक्सी-हायड्रॉक्साइड की एक महीन परत बनने लगती है, जो लौह स्तंभ को एक तरह का सुरक्षा कवच प्रदान करती है। फोस्फेट बन पाना इसलिए संभव होता है चूंकि इस लौह स्तंभ की बनावट में फोस्फोरस की कुछ मात्रा पहले से ही मौजूद है। इस परत के बन जाने के बाद लौह स्तंभ को जंग लगने की दर लगभग नगण्य हो जाती है। यानी कि स्टेनलेस स्टील की तरह ही इस लौह स्तंभ पर भी एक ऐसी परत बन गई है जिसने उसे 1600 साल तक जंग से बचाए रखा है।

के बर्तनों से लेकर बर्तन धोने के सिंक तक आपको हर जगह स्टेनलेस स्टील दिखाई दे जाएगा। इनमें से कई बर्तन ऐसे भी होंगे जिन्हें हम बचपन से देखते आ रहे हैं और उनमें बिल्कुल भी जंग नहीं लगा। दरअसल स्टेनलेस स्टील में होता यह है कि क्रोमियम, निकिल जैसी धातुएं हवा में मौजूद ऑक्सीजन और पानी में मौजूद ऑक्सीजन से क्रिया करके धातु की सतह पर एक महीन-सी परत बना लेती हैं। यह परत काफी स्थाई होती है। इस महीन परत के निर्माण में क्रोमियम काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। एक बार इस परत के बन जाने के बाद बर्तन पर ऑक्सीजन की कोई क्रिया नहीं हो पाती और धातु लंबे समय के लिए सुरक्षित हो जाती है। इन बर्तनों पर खरोंच आने की स्थिति में भी बर्तनों का कुछ नहीं बिगड़ता क्योंकि वहां भी जल्दी-ही महीन फिल्मनुमा परत बन जाती है।

बच्चों का किताबघर

रेणु बोर्दिया

बचपन से ही मुझे लगता था इन स्कूली किताबों के अलावा भी कुछ और पढ़ने को मिल जाए तो मज़ा आ जाएगा। इत्तफाक से मुझे स्कूली किताबों के अलावा काफी कुछ पढ़ने को मिला। शिक्षिका बनने के बाद मैं अपने पुराने दौर को याद करते हुए बच्चों के लिए एक लाइब्रेरी बनाना चाहती थी। इस लेख के माध्यम से बच्चों के लिए किताबघर बनाने संबंधी कुछ अनुभव मैं आपके साथ बांटना चाहती हूं।

1993 से मुझे उदयपुर के विद्या भवन स्कूल में अध्यापिका बनकर कार्य करने व सीखने का अवसर प्राप्त हुआ। उन दिनों अध्यापक कक्ष में तीन अलमारियां बाल पुस्तकों से भरी देखी जा सकती थीं जिन पर ताले लटके रहते थे। पूर्व पुस्तकालय प्रभारी की सेवानिवृति के बाद किसी अध्यापक/अध्यापिका को इनका चार्ज नहीं दिया गया था। कुछ बाल पत्रिकाएं भी विद्यालय में आ रही थीं जिसे एक अध्यापिका रजिस्टर में नोट कर लेती थी। ये पत्रिकाएं अध्यापक कक्ष में ही रखी रहती थीं। जब कोई अध्यापक/

अध्यापिका छुट्टी पर होते तो खाली पीरियड में उस कक्षा का लीडर आकर उन पत्रिकाओं को कक्षा में पढ़ने के लिए ले जाता था। दो कक्षाओं के एक साथ खाली होने की स्थिति में जो लीडर पहले आ जाता उसके हाथ पत्रिकाएं लग जाती थीं और दूसरा लीडर अपनी बारी का इंतज़ार करता रह जाता था। एक और समस्या थी कि समय सारणी में पुस्तकालय का कालांश नहीं था। अन्य अध्यापकों/अध्यापिकाओं से पूछे जाने पर कि 'पूर्व में पुस्तकालय की व्यवस्था क्या थी?' बताया गया कि पहले पुस्तकालय का कालांश समय सारणी में होता था जिसमें 15 दिनों में एक बार पुस्तक इशू की जाती व बाल-पत्रिकाएं भी पढ़ी जाती थीं।

पुस्तकालय में मेरी रुचि को देखते हुए, काफी प्रयासों व बातचीत के बाद मुझे जूनियर स्कूल के पुस्तकालय की लगभग 4000 पुस्तकों का चार्ज दिया गया। मेरे विशेष अनुरोध पर अध्यापक कक्ष में रखी किताबों की अलमारियों को उनके पुराने स्थान यानी संगीत कक्ष में रखा गया। संगीत अध्यापिका मेरी अच्छी दोस्त थी, उसने मेरी पूरी मदद की।

अब किताबें थीं, जगह थी, लेकिन पुस्तकालय हेतु कोई कालांश नहीं था, न ही उसके मिलने की कोई संभावना चालू सत्र में नज़र आती थी। नियमों के आधार पर बताया जा रहा था कि प्राथमिक कक्षाओं में पुस्तकालय के लिए कालांश नहीं दिया जा सकता। अब जो तरीका नज़र आ रहा था वह यह कि रोज़ मध्यावकाश में एक-एक कक्षा को और शनिवार को दो कक्षाओं को पुस्तकालय में बिठाने की अनुमति मांगी जाए। मेरा यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया गया। इसमें किसी को कोई एतराज़ नहीं था। चालू सत्र में इस व्यवस्था को प्रभावी तरीके से चलाया गया।

अगले सत्र की शुरुआत में ही सिंहावलोकन मीटिंग में मैंने विधिवत पुस्तकालय के कालांश की मांग की; और शनिवार को एक कालांश बढ़ाकर उसकी पूर्ति की गई। किताबों के एक ढेर को एक लाइब्रेरी में तब्दील करने के लिए क्या कुछ नहीं करना पड़ता यह बात मेरे आगे के अनुभवों से साफ हो सकेगी।

बच्चों द्वारा पुस्तकों का वर्गीकरण

विद्यार्थियों को यह पता चले कि उनके पुस्तकालय में कौन-कौन-सी पुस्तकें हैं और उनकी पुस्तकें पढ़ने की रुचि जागे इसलिए मैंने अलमारियों की पुस्तकें दरी पर ढेर के रूप में बच्चों के सामने रखवा दीं। अब बच्चों को 5-5 के समूहों में बांटकर निर्देश दिया कि किताबों को विषयानुसार – कहानी, कविता, उपन्यास, नाटक,

महापुरुष, नैतिक कथाएं, विज्ञान, सामाजिक अध्ययन, गणित, अंग्रेज़ी आदि के हिसाब से अलग-अलग छांट लें और विषयानुसार अलमारी में निश्चित की गई जगह पर सलीके से जमा दें।

एक बार ऐसी व्यवस्था हो जाने के बाद मुझे इस ओर ज़्यादा ध्यान भी नहीं देना पड़ता था। लेकिन बच्चों द्वारा जमकर किए गए इस्तेमाल व मुख्य पुस्तकालय प्रभारी के चेकिंग के कारण पुस्तकें पुनः कुछ मिल-सी गई थीं। इसलिए इस वर्ष पुनः कक्षा 3, 4 व 5 के विद्यार्थियों के साथ यह गतिविधि दोहराई गई। इस बार उन्होंने न केवल किताबों को छांटा बल्कि विषयों के नाम व आधार भी स्वयं तय किए। विद्यार्थियों ने इस कार्य में बड़ी रुचि दिखाई। कुछ पुस्तकों को पढ़ने की रुचि भी ज़ाहिर की। शायद यह काम मुझे अकेले करना पड़ता तो कई दिन लग जाते जो विद्यार्थियों ने बहुत कम समय में कर दिखाया।

किताबें जारी करना

विद्यार्थियों को पुस्तकें देने हेतु इशू रजिस्टर मंगवाए गए। प्रारंभ में जब मैं पुस्तकालय कालांश लंच-टाइम में लेती थी तब समयाभाव के कारण इशू रजिस्टर में क्रमांक, पुस्तक का नाम, विद्यार्थी का नाम, कक्षा, विद्यार्थी के हस्ताक्षर, लौटाने की तारीख, पुस्तकालय प्रभारी के हस्ताक्षर व अन्य विवरण . . . आदि काफी संक्षेप में भरती थी। इससे कम समय में लगभग सभी विद्यार्थियों को पुस्तकें दे पाती थी। परन्तु अब ऑडिट ऑब्जेक्शन व मुख्य पुस्तकालय प्रभारी के निर्देशानुसार किताबें इशू करने की सभी कवायदें करनी पड़ रही हैं।

पहले वाले तरीके में मुझे बच्चों के अवलोकन का अधिक मौका मिलता था। अब किताबें इशू करने पर प्रत्येक विद्यार्थी के हस्ताक्षर भी लेने होते हैं जिसमें काफी वक्त जाया होता है।

कक्षा तीन के विद्यार्थियों को जब भी मैं पुस्तक देती या लौटाती तब यह ज़रूर पूछती कि क्या पढ़ा, क्या

अच्छा लगा? इस प्रश्न पर अक्सर उनके चेहरे लटक जाते। वे तो पुस्तकों के आकार को देखकर पुस्तकें चुनते थे मगर उनमें उनके पढ़ने लायक चीज़ें काफी कम होती थीं। इसलिए इन पुस्तकों की जगह बाल पत्रिकाएं इशू करने की आज्ञा प्रधानाध्यापिका से मांगी। इस मांग की वजह से मुझे अपने साथी अध्यापक-अध्यापिकाओं के विरोध का सामना भी करना पड़ा। उनका कहना था कि नियमानुसार बाल पत्रिकाएं इशू नहीं की जा सकतीं। परन्तु आज्ञा मिल गई और इससे मुझे विद्यार्थियों की पढ़ने के प्रति रुचि बढ़ाने में काफी सफलता मिली।

बाल पत्रिकाएं

बाल पत्रिकाओं में विद्यार्थियों की बड़ी रुचि देखी गई। प्रारंभ में चंपक बना रहा बच्चों का विशेष आकर्षण। सब पत्रिकाओं की एक ही प्रति आती थी यानी कि महीने के शुरू में लगभग 10 से 15 पत्रिकाएं आती थीं, जबकि विद्यार्थी थे लगभग डेढ़ सौ। पहले की तरह यदि ये पत्रिकाएं अध्यापक कक्ष में रखी जाती तो समस्या ज्यों-कि-त्यों बनी रहती इसलिए इन्हें पुस्तकालय कक्ष की अलमारियों में रखा जिस पर ताला भी लगाया गया। इस पर अन्य अध्यापक-अध्यापिकाओं ने आपत्ति भी उठाई किन्तु सही समय पर सभी विद्यार्थियों को पुस्तकालय कालांश में ये पत्रिकाएं सहज ही उपलब्ध हों इसलिए ऐसा करना आवश्यक था। धीरे-धीरे बाल पत्रिकाओं का संख्यात्मक रूप से अच्छा संग्रह हो गया। पिछले पांच सालों से इन बाल पत्रिकाओं को पुस्तकालय में विद्यार्थियों के लिए उपलब्ध कराया जा रहा है। ये पत्रिकाएं खाली पीरियड में विद्यार्थियों के पढ़ने के काम भी आती हैं।

ऐसा अक्सर होता था कि जब भी कोई नई बाल पत्रिका पुस्तकालय में आती थी तो बच्चों की ओर से उसका पुरज़ोर स्वागत नहीं होता था। जैसे मुझे याद पड़ता है कि 'चकमक' पत्रिका के अंक जब हमारे किताबघर में आने लगे तो मुझे यह पत्रिका बच्चों के लिए काफी उपयोगी लगी। मैंने उन्हें अन्य बाल पत्रिकाओं के साथ रखना शुरू किया। परन्तु शुरुआती समय में बच्चे उसे चंपक के नाम के भ्रम में उठाते और पुनः रख देते। चंपक बाल पत्रिका के तो पढ़-पढ़ कर हाल बुरे हो जाते जबकि चकमक ज्यों-कि-त्यों? तब मैंने उनमें से 'कागज़ के खेल' जैसी चीज़ें बच्चों से बनवाना प्रारंभ की। तब देखते-ही-देखते बच्चों की रुचि चकमक की सरल सहज कविताओं, कहानियों में बढ़ने लगी। अब पढ़ने में बार-बार अध्यापकों से भी नहीं पूछना पड़ता। वे स्वयं किसी की मदद के बिना पढ़ पा रहे थे।

बच्चों के लिए पुस्तकालय

पुस्तकालय का पीरियड सप्ताह में एक बार ही आता है और यदि किसी सप्ताह विशेष में उस दिन छुट्टी हो तो बस विद्यार्थियों का रोष . . . ! विद्यार्थियों की पुस्तकों के प्रति तारतम्यता बनी रहे व पुस्तकें उनकी कक्षा में हर समय उपलब्ध हों जिनका उपयोग वे स्वेच्छा से कर सकें इसलिए प्रत्येक कक्षा में सत्र के प्रारंभ में ही पुस्तकें व बाल पत्रिकाएं दे दी जाती थीं जिसका रिकॉर्ड – प्रारंभ में कितनी पत्रिकाएं दी गईं व सत्र के अंत में उनमें से कितनी लौटाई गईं, रखा जाता था। उपयोग के आधार पर सत्र के अंत में इस रिकॉर्ड का कक्षावार तुलनात्मक अध्ययन पेश किया जाता है। कक्षा में पुस्तकालय संचालन की ज़िम्मेवारी कक्षा में से ही स्वेच्छा से आगे आए दो विद्यार्थियों को दी जाती है। इस व्यवस्था के बावजूद भी कक्षा पुस्तकालय की ज़िम्मेवारी लेने वाले विद्यार्थियों व अन्य विद्यार्थियों में किताबों के लेन-देन को लेकर बहस चलती रहती थी। इसी समस्या से उबरने के लिए पिछले वर्ष एक प्रयोग किया गया।

विद्यालय भवन (जूनियर) में एक कक्षा खाली थी, इसका उपयोग कक्षा पुस्तकालय हेतु किया गया। एक-एक बाल पत्रिका हेतु एक-एक डेस्क रखा गया व उस बाल पत्रिका का नाम व उसकी संख्या डेस्क पर लिख दी गई। खाली पीरियड में विद्यार्थी उस कमरे में जाकर पत्रिकाएं पढ़ते व निकलते समय उन पत्रिकायों को वापस सही स्थान पर रखते। परन्तु फिर भी कई बार अधिक विद्यार्थियों के होने पर अनुशासन की समस्या आ जाती।

इसके अतिरिक्त हमने बच्चों के सामने एक और योजना रखी कि यदि उनके घर में ऐसी कोई पुस्तक, बाल पत्रिका या पुरानी पाठ्यपुस्तक पड़ी हो तो वो उसे इस पुस्तकालय में जमा करवा दें व उसके बदले में घर पर पढ़ने हेतु बाल पत्रिकाएं ले जा सकते हैं। काफी विद्यार्थियों ने इसमें सहयोग दिया। एक विद्यार्थी की मां ने लगभग 90 बाल पत्रिकाएं जमा करवाई; जिसमें कई चित्र कथाएं थीं जिनको पढ़ने के लिए विद्यार्थी काफी उत्सुक रहते थे। जब उस छात्र ने अपनी पत्रिकाएं विद्यालय में देखी तो बोल पड़ा यह तो मैंने पढ़ी नहीं। उसे उनमें से कुछ चित्र कथाएं इशू की गई जिसे पढ़कर उसने पुनः जमा करवाई।

इतना सब कुछ चल पड़ने के बाद भी अभी पुस्तकालय के स्वरूप को लेकर कुछ सवाल बरकरार थे।

कुछ नज़ारे हमारा लाइब्रेरी के

हमारी लाइब्रेरी में कुछ बेहद आम बातें हैं जिन्हें बिना किसी विशेष कोशिश के देखा-समझा जा सकता है।

कक्षा 3 के विद्यार्थियों के साथ ये समस्या अक्सर आती है कि वे 30 मिनट के पुस्तकालय कालांश में अधिकांश समय पत्रिकाओं या पुस्तकों के चयन में ही निकाल देते हैं। ऐसे कुछ विद्यार्थी कक्षा चार व पांच में भी मिल जाते हैं।

वे स्थिरता से किसी पुस्तक का चयन कर सकें इस हेतु उन्हें थोड़ी मदद की आवश्यकता होती है। प्रारंभ के कई विद्यार्थी आकार के आधार पर पुस्तकों का चयन करते हैं। छोटी या फिर मोटी से मोटी पुस्तकों का चयन करते हैं। पुस्तक लौटाते समय मैं अक्सर उनसे पूछती कि तुमने क्या पढ़ा तो वे उत्तर नहीं दे पाते। तब मैं उन्हें उन पुस्तकों से परिचय करवाती जो वो वास्तव में पढ़ सकते थे। कभी-कभी बाल पत्रिकाएं भी घर पर पढ़ने को देती। अब धीरे-धीरे 'अपने साथी के पास वाली किताब हमें पढ़नी है' ऐसी डिमाण्ड भी आने लगी। एक ही पुस्तक के लिए तीन या चार विद्यार्थी पढ़ने के उम्मीदवार हो जाते तब उन्हें अपनी बारी का इंतज़ार भी करना पड़ता।

जो विद्यार्थी पुस्तक पढ़ने में रुचि नहीं लेते उनको कुछ अंतर ढूंढो, शब्द पहेली, वर्ग पहेली आदि करने को कहती। वे सहज ही उससे जुड़ जाते व अगले सप्ताह आते ही उन पत्रिकाओं को ढूंढकर काम करना शुरू कर देते। अक्सर वे यह कार्य दो-तीन साथियों के झुण्ड में करते थे।

यह भी देखा गया है कि यदि कोई विद्यार्थी कोई कहानी पढ़ रहा है और वह अधूरी रह जाए तो विद्यार्थी उस किताब को नीचे कहीं छुपा देता है ताकि उसे वह दुबारा मिल सके। यह बात जब हमारी समझ में आई तो हमने बच्चों से कहा कि यदि कोई कहानी अधूरी रह जाए तो वे उस किताब पत्रिका को इशू करवा सकते हैं।

जहां बच्चे किताबें पढ़ने में रुचि लेते हैं वहीं फटी हुई किताबों की मरम्मत के लिए भी हर कक्षा से दो बच्चे इस काम के लिए आ जाते हैं।

जहां पढ़ने वाले कक्षा -1 से लेकर कक्षा -5 तक के बच्चे हों, वहां पढ़ने के भी कई तरीके नज़र आते हैं। कक्षा 1, 2 और 3 के बच्चे शब्दों पर अंगुली फेरते हुए ज़ोर-ज़ोर से पढ़ते हुए नज़र आएंगे वहीं कक्षा 5, 6 के बच्चे एकाग्रता से पढ़ते देखे जा सकते हैं। बड़े बच्चे अपनी पढ़ी हुई किताबों पर आपस में चर्चा करते हुए भी देखे जा सकते हैं।

विद्यार्थी हर प्रकार की पुस्तकें पढ़ें इस हेतु उन्हें प्रेरित किया जाता है; चाहे वे कहानी, महापुरुषों के बारे में रोचक जानकारी, विज्ञान, गणित या अन्य विषय ही क्यों ना हों। प्रार्थना सभा व सांस्कृतिक कार्यक्रमों हेतु भी पुस्तकों से अनमोल वचन, कविताएं,

चुटकुले, कहानियां आदि के चयन में मदद ली जाती। किसी विद्यार्थी ने कोई पुस्तक पढ़ी तो वह अपने दोस्तों को उसे पढ़ने की सलाह भी देता जिससे उनमें भी उसे पढ़ने की इच्छा जागृत होती। पाठ्यक्रम से जुड़ी संदर्भ पुस्तकें भी समय-समय पर विद्यार्थियों को पढ़ने हेतु दी जाती हैं।

कुछ अन्य प्रयास

- वर्कशॉप, सेमिनार से प्राप्त रपट एवं अन्य संस्थाओं द्वारा दी गई पुस्तकों, लेखों आदि का एक अलग सेक्शन बनाया गया है जिसे संदर्भ हेतु प्रयोग में लिया जाता है।
- बाल साहित्य की पुस्तकों का बाहुल्य होने से बी. एड. के प्राध्यापकों द्वारा हिन्दी, गणित व पर्यावरण अध्ययन के कोर्स के दौरान इन पुस्तकों का नियमित प्रयोग किया जाता है।
- इस सत्र के शीतकालीन अवकाश में प्रत्येक विद्यार्थी को एक हिन्दी व एक अंग्रेज़ी की पुस्तक दी गई व उसी के आधार पर गृहकार्य दिया गया जो एक नया प्रयोग था।
- अध्यापक/अध्यापिकाओं को संदर्भ हेतु जिन पुस्तकों की आवश्यकता होती है उन्हें पुस्तकालय के लिए मंगवाने का प्रयास किया जाता है।
- पुस्तकों के चयन हेतु एक समिति बनाई गई जो विद्यार्थियों के स्तर, रुचि व आयु के आधार पर पुस्तकों का चयन करती है।
- पिछले वर्षों में कक्षा पुस्तकालय के लिए कुछ पुस्तकें व बाल पत्रिकाएं परमानेन्ट रजिस्टर से हटकर खरीदी गईं, ताकि ये कक्षा में उपलब्ध करवाई जा सकें।

कई बार मैं सोचती हूं कि क्या मामला किताबों के आगे भी बढ़ पाएगा। हमारे पुस्तकालय में सुनने के लिए कैसेट भी होना चाहिए। बच्चे आपस में किताबों के अलावा विचारों का, किसी मॉडल का या गतिविधि का आदान-प्रदान भी कर सकें। पुस्तकालय की अपनी कुछ स्वतंत्र गतिविधियां भी होनी चाहिए।

खैर, योजनाओं की यह फेहरिस्त और भी लंबी हो सकती है। अभी तो बस एक शुरुआत की है। देखना है इस पुस्तकालय को और कितना आगे ले जा सकते हैं; कितनी और योजनाओं को अमली-जामा पहना सकते हैं।

रेणु बोर्दिया: उदयपुर के विद्या भवन स्कूल में अध्यापिका हैं। बच्चों के साथ विविध गतिविधियां करवाने में रुचि रखती हैं।

नाइट्रोजन स्थिरीकरण के विविध तरीके

आ. दि. कर्वे

इस कृषि प्रधान देश में खेती में नाइट्रोजन का महत्व बताने की ज़रूरत नहीं है। वैसे तो हवा में 78% नाइट्रोजन होता है लेकिन पेड़-पौधे इसे श्वसन के ज़रिए सीधे-सीधे उपयोग में नहीं ले पाते। पौधों को नाइट्रोजन मिलने का एक स्रोत है - नाइट्रोजन स्थिरीकरण प्रक्रिया। इस प्रक्रिया

में पौधे अपनी जड़ों के मार्फत नाइट्रोजन के यौगिकों को प्राप्त करते हैं। यदि मिट्टी में पर्याप्त मात्रा में नाइट्रोजन नहीं हो तो नाइट्रोजनयुक्त रासायनिक खाद का इस्तेमाल किया जाता है ताकि पौधों की नाइट्रोजन संबंधी ज़रूरतें पूरी हो सकें। लेकिन रासायनिक खाद की लगातार बढ़ती कीमतों ने यह सोचने पर मज़बूर कर दिया है कि पौधों की नाइट्रोजन संबंधी ज़रूरतों को पूरा करने के और क्या विकल्प हो सकते हैं? विकल्पों की तलाश में कुछ फसलों के लिए नील-हरित शैवाल नाइट्रोजन के सस्ते विकल्प बन कर सामने आए, तो कुछ अन्य फसलों के लिए जेनेटिक्स की तकनीक बेहतर साबित हुई।

सभी प्रकार की वनस्पतियों एवं जीव-जन्तुओं के लिए नाइट्रोजनयुक्त पदार्थों, विशेषकर प्रोटिन्स की आवश्यकता होती है। पानी में और मिट्टी में कुछ मात्रा में नाइट्रोजनयुक्त लवण विद्यमान रहते हैं। वनस्पतियां इन्हें अवशोषित करती हैं और चयापचय के लिए उपयुक्त जैविक (ऑर्गेनिक) यौगिकों में इनका रूपान्तरण करती हैं। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जंतु अपनी नाइट्रोजन संबंधी ज़रूरतों के लिए वनस्पतियों पर ही निर्भर रहते हैं। प्रकृति में कुछ ऐसे सूक्ष्म जीव पाए जाते हैं जो वातावरण से सीधे नाइट्रोजन को ग्रहण करते हैं और इसका रूपान्तरण उपयुक्त जैविक यौगिकों में करते हैं। इस प्रक्रिया को नाइट्रोजन स्थिरीकरण (Nitrogen Fixation) कहते हैं।

सन् 1888 में दो जर्मन वैज्ञानिकों - हेल्रीगेल एवं विल्फार्थ ने दलहनों की घास-कुल के अनाजों से तुलना की। इसके लिए उन्होंने पौधों की वृद्धि-दर, इन में मौजूद नाइट्रोजनयुक्त यौगिकों की मात्रा जैसे पैमानों को इस्तेमाल किया। इस तुलना के बाद उन्होंने यह संभावना व्यक्त की कि शायद दलहनों के पौधे हवा में मौजूद नाइट्रोजन का इस्तेमाल कर पाते हैं। वैसे आज हम यह बखूबी जानते हैं कि दलहनों में पौधों की जड़ों पर मौजूद गठानों में रायज़ोबियम परिव

के बैक्टेरिया होते हैं। ये बैक्टेरिया हवा में मौजूद नाइट्रोजन को लेकर पौधों को नाइट्रोजन उपलब्ध कराते हैं।

कुदरत बनाम रासायनिक खाद

ज़्यादा-से-ज़्यादा उत्पादन पाने की होड़ में हम जो पहला कदम उठाते हैं वो है रासायनिक खादों का ज़रूरत से ज़्यादा इस्तेमाल करना। खेती-बाड़ी में दलहनी फसलों (चना, मूंग, अरहर, बल्लर, सोयाबीन, मूंगफली आदि) को छोड़कर अन्य सभी फसलों के लिए नाइट्रोजनयुक्त खाद की आवश्यकता होती है। हां, खाद की मात्रा फसल और उसकी नस्ल के हिसाब से कम-ज़्यादा हो सकती है। जैसे कम अवधि में पकने वाली गेहूं की फसल या संकरित ज्वार के लिए खाद की मात्रा 100 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर है; वहीं यह गन्ने की फसल के लिए 250 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर तक होती है।

नाइट्रोजनयुक्त खाद का निर्माण भी वातावरण से प्राप्त नाइट्रोजन से किया जाता है। इसके लिए हैबर विधि अपनाई जाती है। इस विधि में उच्च ताप (4000 डिग्री सेंटीग्रेड) व 200 गुना वायुमंडलीय दाब की ज़रूरत होती है। इस ताप और दाब को बनाए रखने में ही बड़े पैमाने पर ऊर्जा का व्यय होता है। हैबर विधि द्वारा विश्व में प्रतिवर्ष लगभग तीन करोड़ टन नाइट्रोजन को अमोनिया में परिवर्तित किया जाता है। जबकि एक अनुमान के अनुसार इससे दस गुना नाइट्रोजन का स्थिरीकरण प्रतिवर्ष प्राकृतिक जैविक प्रक्रिया द्वारा होता है।

नाइट्रोजन स्थिरीकरण की जैव प्रक्रिया में इस्तेमाल होने वाली ऊर्जा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सूर्य से, यानी एकदम मुफ्त प्राप्त होती है। इस प्रक्रिया से उत्पन्न नाइट्रोजनयुक्त पदार्थों के उपयोग से कृत्रिम खाद पर होने वाले खर्च में कमी की जा सकती है। इस दृष्टि से विश्वभर में नाइट्रोजन की जैव स्थिरीकरण प्रक्रिया का गहन अध्ययन किया जा रहा है। इस अध्ययन के दो पहलू हैं। एक ओर, नाइट्रोजन स्थिरीकरण के लिए उत्तरदाई सूक्ष्म जीवाणुओं का खेतों में उपयोग करक पैदावार में बढोत्तरी के प्रयास किए जा रहे हैं। दूसरी ओर, नाइट्रोजन स्थिरीकरण के लिए उत्तरदाई जीन के प्रत्यारोपण से उच्च वनस्पतियों को नाइट्रोजन के मामले में स्वयंपोषी बनाने की दिशा में प्रयोग किए जा रहे हैं।

सूर्य-प्रकाश: नील-हरित शैवाल

अनेक प्रकार के जैवघटक नाइट्रोजन स्थिरीकरण की क्षमता रखते हैं। इनमें सूरज की रोशनी का इस्तेमाल करने वाले बैक्टेरिया तथा नील-हरित शैवाल (Blue-Green Algae) प्रमुख हैं। इन दो समूहों में से खेती में उपयोग की दृष्टि से नील-हरित शैवाल अधिक

दलहनी फसलों की जड़ों पर दिखाई देने वाली ये गठानें (Nodules) वास्तव में नाइट्रोजन स्थिरीकरण करने वाले बैक्टेरिया का आवास है। ये बैक्टेरिया वायुमंडलीय नाइट्रोजन (N_2) को अमोनिया (NH_3) में तब्दील करते हैं। पौधे इसका इस्तेमाल कर इससे अमीनो अम्ल और प्रोटिन्स का निर्माण करते हैं। चूंकि दलहनों और फली वाली फसलों से मिट्टी में नाइट्रोजन की मात्रा बढ़ती है, इसलिए फसलों का ऐसा चक्र बनाया जाता है कि दलहनों की खेती से बढ़ी हुई नाइट्रोजन की मात्रा का लाभ बाद वाली फसलों को मिल सके।

उपयुक्त है। इस समूह के घटकों को यद्यपि शैवाल कहा जाता है, परन्तु वास्तव में यह साइनोबैक्टेरिया समूह के सदस्य होते हैं। नील-हरित शैवालों की कोशिकाओं में क्लोरोफिल के अलावा दो अन्य रंजक फाइकोसाइनीन एवं फाइकोएरिथ्रिन कुछ कम या अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। इन रंजकों की उपस्थिति के कारण नील-हरित शैवाल सूर्य के प्रकाश में विद्यमान हरी एवं पीली प्रकाश किरणों का भी प्रकाश संश्लेषण में उपयोग कर सकती है। इस अनोखी व्यवस्था के कारण नील-हरित शैवाल उन परिस्थितियों में भी सामान्य रूप से वृद्धि करते हैं जिन परिस्थितियों में हरित शैवाल का जीवित रहना कठिन होता है। हरित शैवाल में केवल एक रंजक क्लोरोफिल उपस्थित रहता है जो केवल नीली और लाल प्रकाश किरणों को ही अवशोषित कर सकता है।

शैवाल प्रायः उच्च वनस्पति की छाया में दोमट मिट्टी में पनपते हैं। उच्च वनस्पति की क्लोरोफिल-युक्त पत्तियां प्रकाश संश्लेषण के लिए सूर्य के प्रकाश से नीली व लाल किरणों को

नाइट्रोजन स्थिरीकरण में भाग लेने वाले सायनोबैक्टेरिया परिवार का, फिलामेंट के आकार का सायटोनीमा। आयताकार कोशिकाओं से बने सायटोनीमा में एक हल्के रंग की कोशिका (गोले से घेरी हुई) ही वह हिस्सा है जहां नाइट्रोजन स्थिरीकरण का काम होता है। इस हिस्से को हिटेरोमाइट कहते हैं। हिटेरोसाइट स्थिर की गई नाइट्रोजन को अपने आसपास की कोशिकाओं को देता जाता है। यदि यह बैक्टेरिया किसी ऐसे वातावरण में वृद्धि कर रहा हो जहां नाइट्रोजन पर्याप्त मात्रा में हो तो सायटोनीमा में हिटेरोसाइट नहीं पाए जाते; लेकिन बैक्टेरिया को ज़रूरत हो तो हिटेरोसाइट पुनः प्रकट हो जाते हैं। चित्र-1 में गोले से घिरे हुए हिस्से, हिटेरोसाइट का ही क्लोज़अप चित्र-2 और 3 में दिखाया गया है।

अवशोषित करती हैं। पत्तियों से छनकर नीचे आने वाले प्रकाश में नीली व लाल किरणों का अभाव रहता है। अतः वनस्पति की घनी छाया में हरित शैवाल का पनपना कठिन होता है, परन्तु नील-हरित शैवाल सूर्य के शेष प्रकाश से हरी व पीली किरणों का उपयोग प्रकाश संश्लेषण हेतु कर सकती हैं। अतः पेड़-पौधों की घनी छाया में भी नील-हरित शैवाल की सामान्य वृद्धि संभव होती है। नील-हरित शैवाल में नाइट्रोजन स्थिरीकरण की क्षमता होती है। इस समूह की विशेष सक्रिय शैवाल जातियों की पहचान कर इनका उपयोग धान की खेती में नाइट्रोजन पूर्ति के स्रोत के रूप में किया जा सकता है। भारतवर्ष में कई स्थानों पर इस दिशा में अनुसंधान किए जा रहे हैं।

प्रयोगों के दौरान यह देखा गया है कि धान के खेत में नील-हरित शैवाल के संवर्धन (कल्चर) का उपयोग करने से पैदावार में लगभग 10 से

2
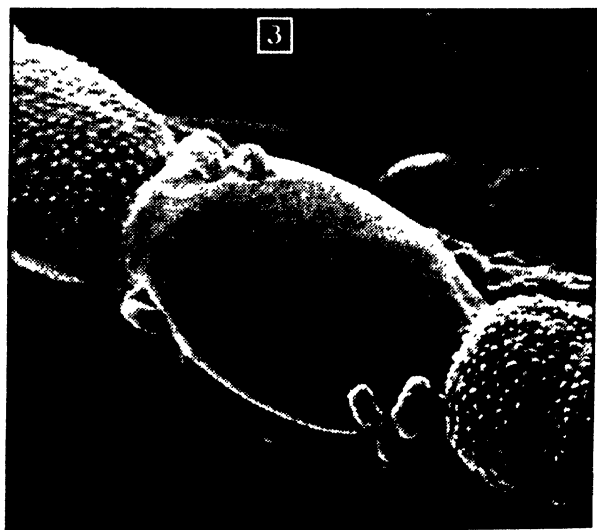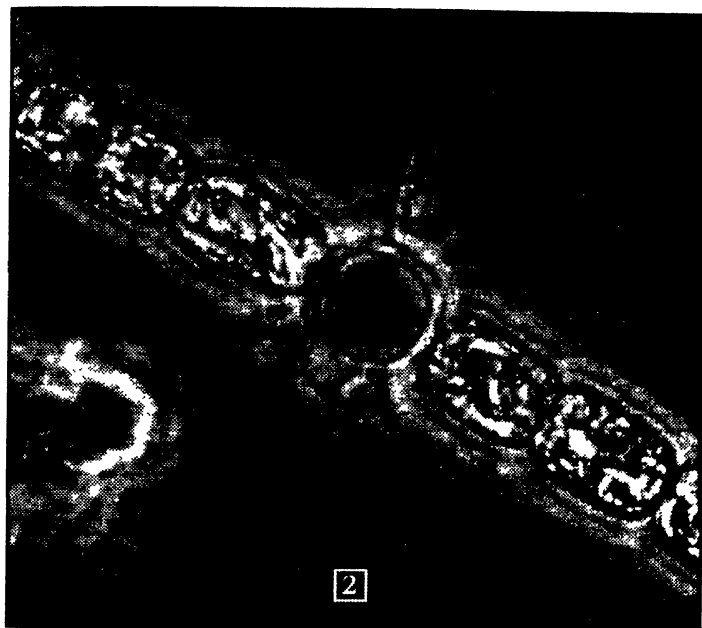
20 प्रतिशत तक की वृद्धि होती है। लेकिन निश्चित तौर पर यह कहना मुश्किल है कि यह वृद्धि शैवाल द्वारा उपलब्ध कराए गए नाइट्रोजनयुक्त पदार्थों की वजह से ही होती है। ऐसा पक्का दावा इसलिए भी नहीं किया जा सकता क्योंकि नील-हरित शैवाल अपना भोजन खुद तैयार करते हैं यानी वे अपनी ऊर्जा को खर्च करके नाइट्रोजन का स्थिरीकरण करते हैं। अब इन हालात में यह सोचकर थोड़ी हैरत ही होती है कि नील-हरित शैवाल अपने द्वारा तैयार किए गए नाइट्रोजन को पौधों को मुहैया करवाएगा। हालांकि हमारे द्वारा किए गए प्रयोगों से निरंतर सकारात्मक परिणाम प्राप्त हुए हैं। प्रयोगों से इस बात के संकेत मिलते हैं कि नील-हरित शैवाल की उपस्थिति में उच्च वनस्पतियों की वृद्धि दर भी बढ़ती है। नील-हरित शैवाल दोमट मिट्टी में और धान की क्यारियों के पानी में पनप सकती है। इस माहौल में उन्हें हरित शैवालों के साथ स्पर्धा करनी पड़ती है। लेकिन उच्च वनस्पतियों की पत्तियां और हरित शैवाल दोनों में प्रकाश संश्लेषण के लिए एक ही प्रकार के रंजक (क्लोरोफिल 'ए' एवं 'बी') विद्यमान रहते हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है उच्च वनस्पतियों की पत्तियों से छनकर आने वाले सूर्य के प्रकाश में हरित शैवाल का पनपना मुश्किल होता है, परन्तु फाइकोसाइनीन व फाइकोएरिथ्रिन रंजकों की उपस्थिति के कारण नील-हरित शैवाल घनी छांव में भी सामान्य गति से बढ़ती है और धान की फसल को मदद करती हुई प्रतीत होती है।

शैवाल: एक वैकल्पिक खुराक

खेतों में नाइट्रोजन आपूर्ति के स्रोत होने के अलावा नील-हरित शैवाल को भोजन सामग्री के रूप में भी उपयोग किया जा सकता है। भारत में भी, शैवालों को किस तरह भोज्य पदार्थ बनाया जाए इस दिशा में शोध चल रही है। भोज्य पदार्थों की दृष्टि से स्पायरूलिना नील-हरित शैवाल उपयुक्त पाए गए हैं।

दुनिया में कुछ तालाब ऐसे हैं जिनके पानी का पीएच 10 से 11 तक है। इस पानी में कुछ ही जीव व वनस्पति जीवन गुज़ार पाते हैं। कुछ शैवाल भी इनमें आसानी से गुज़र-बसर कर लेते हैं। इस पानी में मछलियों की गैर-मौजूदगी की वजह से शैवाल आसानी से पनप पाते हैं। दो देशों, मेक्सिको और चैड में ऐसे तालाब हैं जिनमें ढेर सारा शैवाल होता है। इसे पानी से निकाल कर सुखाते हैं और खाद्य-पदार्थों में मिलाकर खाते हैं। यह एक उच्च प्रोटीनयुक्त आदर्श भोजन है। शैवाल में शुष्क भार के अनुपात में 70% तक प्रोटिन्स पाए जाते हैं। शैवाल

में सेल्यूलोज़ कोशिका भित्तियों की अनुपस्थिति के कारण इसे इंसान भी आसानी से पचा पाते हैं। सम्पूर्ण कोशिका का इस्तेमाल भोज्य सामग्री के रूप में किए जाने से फेंका जाने वाला हिस्सा काफी कम होता है।

इसके विपरीत खेती से प्राप्त फसलों के कुछ अंश (बीज, फल, कंद आदि) ही भोजन के रूप में इस्तेमाल होते हैं, शेष भाग व्यर्थ जाते हैं। इस आधार पर यदि गणना करें तो प्रतिवर्ष तीन फसलें उगाने पर भी भोजन योग्य सामग्री का कुल उत्पादन लगभग 15 टन प्रति हेक्टेयर होगा जबकि स्पायरूलिना का उत्पादन इससे तीन गुना अधिक यानी, लगभग 50 टन प्रति हेक्टेयर हो सकता है। यही कारण है कि विश्व में कई स्थानों पर बड़े पैमाने पर स्पायरूलिना के संवर्धन के प्रयास किए जा रहे हैं।

हमारे देश में दो संस्थाएं इस दिशा में प्रयासरत हैं। ये हैं तमिलनाडु राज्य में चेन्नई के पास मुरूगप्पा चेट्टियार अनुसंधान संस्थान और महाराष्ट्र के वर्धा ज़िले का सेंटर ऑफ साइंस फॉर विलेजिज़। इसी तरह महाराष्ट्र में बुलढाणा ज़िले की लोणार झील में स्पायरूलिना के प्राकृतिक संवर्धन की संभावनाएं तलाशी जा रही हैं।

जीवाणुओं से स्थिरीकरण

धान के खेतों में काफी पानी भरा होता है इसलिए नील-हरित शैवाल के संवर्धन के लिए पर्याप्त जल उपलब्ध रहता है। परन्तु अन्य फसलों में खेतों में इतना पानी भरकर नहीं रखा जाता। इस स्थिति में नील-हरित शैवाल के ज़रिए फसल को नाइट्रोजन उपलब्ध कराना संभव नहीं होता है। ऐसी फसलों को प्राकृतिक नाइट्रोजन उपलब्ध करवाने हेतु अन्य जीवाणुओं का उपयोग किया जा सकता है। एझोटोबैक्टर और एझोस्पिरिलम परिवार के जीवाणु वातावरण के नाइट्रोजन का स्थिरीकरण करते हैं। ये जीवाणु जैव पोषक तत्वों से युक्त नम भूमि में पनपते हैं। इनकी उपस्थिति से भूमि में नाइट्रोजनयुक्त पोषक तत्वों की वृद्धि होती है। इसलिए इस भूमि में फसलों की वृद्धि के लिए नाइट्रोजन-युक्त खाद देने की आवश्यकता नहीं होती। जीवाणुओं की इस क्षमता का उपयोग वर्धा के सेंटर ऑफ साइंस फॉर विलेजिज़ द्वारा खाद बनाने की 'नाडेप पद्धति' में किया गया है। जैव त्याज्य पदार्थों से खाद बनाने की परंपरागत विधि में पदार्थों को एक गड्ढे में, वायुरहित वातावरण में, सड़ने के लिए छोड़ दिया जाता है। परन्तु नाडेप पद्धति में यह प्रक्रिया भूमि के ऊपर वायु की उपस्थिति में संपन्न कराई जाती है। नाडेप पद्धति में खेतों की त्याज्य सामग्री और मिट्टी की परतें एक-दूसरे पर बिछाई जाती हैं।

मिट्टी में कुदरती तौर पर पाए जाने वाले एझोटोबैक्टर जीवाणु त्याज्य सामग्री की परतों से पोषक कार्बनिक पदार्थ और वातावरण से नाइट्रोजन ग्रहण करके अपनी संख्या में वृद्धि करते हैं। समय के साथ खाद के इस ढेर में कार्बनिक पदार्थों की मात्रा घटती जाती है और नाइट्रोजनयुक्त पदार्थों की मात्रा बढ़ती है। प्राकृतिक किण्वन (फरमेंटेशन) की इस प्रक्रिया से प्राप्त खाद के इस ढेर में 60% मिट्टी होते हुए भी खाद की गुणवत्ता उत्तम होती है। यह खाद गोबर खाद के समतुल्य होता है। नाइट्रोजनयुक्त पोषक पदार्थों के अलावा एझोटोबैक्टर फसल के लिए वृद्धिजनक संप्रेरक भी उपलब्ध कराते हैं।

जीवाणुओं से संवर्धन

यह देखा गया है कि बीजों को बोनी से पूर्व यदि जीवाणु के संवर्धन (कल्चर) से अथवा जिस माध्यम में ये पनपे हैं उससे उपचारित किया जाए तो पैदावार में 10 से 20% तक की वृद्धि होती है।

उष्णकटिबंधीय इलाके के अनेक घास-कुल के पौधों की जडों में एझोस्पिरिलम नाम का नाइट्रोजन स्थिरीकरण करने वाला जीवाणु पाया जाता है। इसकी खोज ब्राज़ील की एक शोधकर्त्ता श्रीमती डोबेरायनर द्वारा की गई थी। बाद में भारत में किए गए प्रयोगों के दौरान देखा गया कि ज्वार, बाजरा एवं अन्य घास-कुल के पौधों की जड़ों में भी एझोस्पिरिलम पाया जाता है। एझोस्पिरिलम के संवर्धन से बीजों को उपचारित करने की एक विधि दिल्ली स्थित भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान द्वारा विकसित की गई है।

कम बारिश वाले इलाकों में शुष्क खेती का प्रचलन है। शुष्क खेती में खाद का उपयोग नहीं किया जा सकता और पैदावार भी कम होती है। ऐसी हालत में अच्छी पैदावार लेने के लिए नाइट्रोजन का स्थिरीकरण करने वाले जीवाणुओं से मदद ली जा सकती है। शुष्क खेती में एझोस्पिरिलम द्वारा उपचारित बीजों का प्रयोग करने से पैदावार में 15 से 80% तक की बढ़ोत्तरी हो सकती है।

रायज़ोबियम का इस्तेमाल

उपरोक्त तीन जीवाणुओं के अतिरिक्त फसल को फायदा पहुंचाने वाला एक अन्य जीवाणु भी है- रायज़ोबियम। ये जीवाणु दलहनी पौधों की जड़ों पर गुठलीनुमा रचनाओं (Nodules) के रूप में पाए जाते हैं। ये जीवाणु जिन पौधों की जड़ों पर होते हैं उन पौधों से कार्बनिक पदार्थ प्राप्त करते हैं और बदले में उन्हें नाइट्रोजन-युक्त यौगिक उपलब्ध कराते हैं।

रायज़ोबियम द्वारा नाइट्रोजन के स्थिरीकरण की प्रक्रिया में जो अन्य

उत्पाद बनते हैं उनमें हाइड्रोजन भी शामिल है। यदि चयापचय की प्रक्रिया में इस हाइड्रोजन का उपयोग नहीं होता है तो इसके निर्माण में इस्तेमाल ऊर्जा व्यर्थ हो जाती है। रायज़ोबियम की कुछ विशिष्ट नस्लें (Strains) इस हाइड्रोजन का उपयोग कर लेती हैं। इस क्रिया को हाइड्रोजन ग्रहण करना कहते हैं। इस क्रिया के लिए उत्तरदाई जीन को हप जीन कहते हैं। रायझो-बियम के जिन प्रकार में यह जीन पाया जाता है वह नाइट्रोजन स्थिरी-करण की प्रक्रिया में अधिक सक्रिय होते हैं।

रायज़ोबियम एक सहजीवी जीवाणु है। विशिष्ट प्रजाति का जीवाणु विशिष्ट पौधे के साथ रहता है और पौधे की जड़ों पर गठान बना सकता है। अतः फसल की वृद्धि के लिए रायज़ोबियम संवर्धन का उपयोग करते समय उचित जीवाणु का चयन आवश्यक होता है, अन्यथा अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं होते। मूंगफली के पौधों की जड़ों पर गठानें निर्मित करने वाला रायज़ोबियम जीवाणु प्रकृति में लगभग सभी जगह पाया जाता है। इसलिए मूलतः अमेरिकी महाद्वीप पर उगने वाला यह पौधा अनेक उष्णकटिबंधीय देशों में फैल चुका है। इसके विपरीत सोयाबीन के सहअस्तित्व में रहने वाला रायज़ोबियम जापोनिकम कवल सुदूर पूर्व के देशों में ही पाया जाता है। अतः अन्य देशों में सोयाबीन का प्रसार अपेक्षाकृत कम हुआ है। सुदूर पूर्व के अलावा जहां सोयाबीन को बोया जाता है वहां बोनी के समय खेतों में रायज़ोबियम जापोनिकम के संवर्धन का प्रयोग करना आवश्यक होता है।

आनुवांशिक इंजीनियरिंग

नाइट्रोजन स्थिरीकरण के लिए उत्तरदाई जीन को अन्य वनस्पतियों की कोशिकाओं में प्रत्यारोपित करने की दिशा में विश्वभर में अनुसंधान किए जा रहे हैं। इसके लिए क्लेब्सिएला न्यूमोनिए (Klebsiella Pneumoniae) नाम के जीवाणु का चयन किया गया है। इस जीवाणु के गुणसूत्रों के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि नाइट्रोजन स्थिरीकरण की प्रक्रिया में सत्रह जीन भाग लेते हैं। ये जीन एक शृंखला के रूप में एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। जीवाणु में प्लास्मिड नाम का एक छोटा चक्राकार डी. एन. ए. अणु पाया जाता है। प्लास्मिड का वाहक के रूप में प्रयोग करके जीन को दूसरे जीवाणु की कोशिका में प्रविष्ट कराया जा सकता है। इस प्रक्रिया के द्वारा ई. कोलाई नाम के जीवाणु में जीन को प्रत्यारोपित करना संभव हुआ है। इसके अलावा लगभग बीस भिन्न-भिन्न किस्म के जीवाणुओं में जीन्स का प्रत्यारोपण सफलतापूर्वक किया गया है। प्रत्या-रोपित जीन मेहमान कोशिका में न

केवल कार्यशील रहते हैं बल्कि कोशिका विभाजन के समय अगली पीढ़ियों की कोशिकाओं में स्थानांतरित भी हो जाते हैं। इस सफलता को देखते हुए वैज्ञानिकों को विश्वास है कि डी. एन. ए. तकनीक द्वारा उच्च वनस्पतियों में नाइट्रोजन स्थिरीकरण की क्षमता विकसित की जा सकती है, दूसरे शब्दों में वनस्पतियों को आत्मनिर्भर बनाया जा सकता है। परन्तु वर्तमान में यह एक विवाद का विषय बना हुआ है। इस विवाद के दो पहलू हैं :

1. कुछ विश्लेषकों के अनुसार यदि उच्च वनस्पतियों द्वारा नाइट्रोजन स्थिरीकरण का कार्य स्वतः किया जाता है तो उनके द्वारा प्रकाश संश्लेषण में इस्तेमाल होने वाली ऊर्जा का 25% अंश नाइट्रोजन स्थिरीकरण में खर्च होगा। फलस्वरूप उत्पादन में 25% की कमी होगी। एक उदाहरण द्वारा इस स्थिति को स्पष्ट करना उचित होगा। मसलन, महाराष्ट्र राज्य में संकर ज्वार की फसल के लिए प्रति हेक्टेयर सौ किलोग्राम नाइट्रोजन खाद की अनुशंसा की जाती है। इस अनुपात में नाइट्रोजन खाद देने पर लगभग 5 से 6 टन अनाज और 25 गाड़ी पशुचारा प्राप्त होता है। यदि जीन प्रत्यारोपण से ज्वार को नाइट्रोजन के संबंध में आत्मनिर्भर बनाया जाता है तो प्रति हेक्टेयर 100 किलोग्राम खाद (लगभग 1200 रुपए) की बचत की जा सकती है। परन्तु इसके बदले में एक से डेढ़ टन अनाज (कीमत 7000 से 10,000 रुपए) और छः गाड़ी पशुचारे (मूल्य 5000 रुपए) का घाटा सहन करना पड़ सकता है।
2. अब विवाद का दूसरा पहलू। वर्षा की अनिश्चितता के कारण महाराष्ट्र के कुछ भागों में असिंचित खेती की जाती है। असिंचित खेती में किसी भी प्रकार की खाद का उपयोग नहीं किया जाता। इस तरह की गई ज्वार की खेती से प्रति हेक्टेयर लगभग 600 किलोग्राम अनाज प्राप्त होता है। इसके विपरीत जब ज्वार के पौधे को नाइट्रोजन के संबंध में आत्मनिर्भर बनाया जाता है तब पूर्व के उदाहरण में दिए गए आकलन के अनुसार अनाज का उत्पादन प्रति हेक्टेयर चार से साढ़े चार टन होगा। अर्थात सामान्य फसल की तुलना में 6-7 गुना अधिक। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जहां रासायनिक खाद का प्रयोग वर्जित होता है वहां डी. एन. ए. तकनीक द्वारा फसल को नाइट्रोजन के संबंध में आत्मनिर्भर बनाना लाभदायक हो सकता है।

अंत में इस बात पर विचार करना

उचित होगा कि हमारे ऊर्जा के स्रोत धीरे-धीरे घटते जा रहे हैं। ऐसे में रासायनिक खादों की लागत दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है और आने वाले कुछ सालों में नाइट्रोजनयुक्त रासायनिक खाद इतने अधिक महंगे हो जाएंगे कि फसलों को नाइट्रोजन के मामले में स्वावलंबी बनाने के अलावा हमारे पास अन्य कोई विकल्प शेष नहीं बचेगा।

आ. दि. कर्वे: एप्रोप्रिएट रूरल टेक्नॉलॉजी इंस्टीट्यूट, पुणे के अध्यक्ष हैं। कृषि विशेषज्ञ हैं, साथ ही विज्ञान लेखन में रुचि रखते हैं।

मराठी से अनुवाद: सुधा हर्डीकर: रसायन विज्ञान की सेवानिवृत प्राध्यापिका।

यह लेख मराठी संदर्भ, अंक 11, जून-जुलाई 2001 से अनुदित किया गया है।

सवालीराम से पूछा है सवाल

अक्सर घर पर मुझे रोज़ नहाने के लिए कहा जाता है। साथ ही कहा जाता है – साबुन लगाकर नहाओ, सारे जीवाणु मर जाएंगे। मैं यह जानना चाहता हूं कि साबुन कैसे बनाया जाता है, क्या साबुन से सच में जीवाणु मरते हैं?

– मयंक गुप्ता, होशंगाबाद

यदि आप इस सवाल का जवाब जानते हैं तो कृपया अपना जवाब संदर्भ के पते पर जल्द-से-जल्द लिखकर भेजिए।

संदेशों का आना-जाना

वो कौन–सा तरीका है जो गुदगुदाहट, दर्द..... को मस्तिष्क तक ले जाता है और कुछ संदेश वहां से शरीर के किसी हिस्से के लिए लाता है?

जे. बी. एस. हाल्डेन

हमारे शरीर के लगभग प्रत्येक भाग में बहुत महीन रेशे होते हैं जो बण्डलों के रूप में गुंथे होते हैं। इन्हें तंत्रिकाएं कहते हैं। ये महीन रेशे अंततः केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र से जुड़े होते हैं। केन्द्रीय तंत्रिका अर्थात् हमारी खोपड़ी में स्थित मस्तिष्क और रीढ़ की हड्डी के अंदर स्थित मेरुरज्जू।

प्रत्येक ऐसा रेशा संदेशों को दोनों दिशाओं में ले जा सकता है, किन्तु आमतौर पर प्रत्येक रेशा एक ही दिशा में संदेश ले जाता है। संदेशों को केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र तक पहुंचाने वाले रेशों को भीतर ले जाने वाली यानी अंतर्मुखी तंत्रिकाएं (afferent nerve) कहते हैं। इनमें संवेदी तंत्रिकाएं शामिल हैं। संवेदी तंत्रिकाएं वे तंत्रिकाएं हैं जिनसे मस्तिष्क तक पहुंचने वाले संदेशों से दृष्टि, ध्वनि, स्पर्श, दर्द या कोई और अनुभूति उत्पन्न होती है। किन्तु कुछ अंतर्मुखी तंत्रिकाएं ऐसी भी हैं जिनसे कोई अनुभूति उत्पन्न नहीं होती। मसलन वे अंतर्मुखी तंत्रिकाएं जो हमारे पाचन का नियंत्रण करती हैं।

जो तंत्रिकाएं केन्द्रीय तंत्र से संदेश ले जाती हैं उन्हें बहिर्मुखी तंत्रिकाएं (efferent nerve) कहते हैं। इनमें से अधिकांश तंत्रिकाएं मांसपेशियों को संकुचित करवाती हैं। इन्हें मोटर या चालक तंत्रिकाएं कहते हैं। किन्तु कुछ बहिर्मुखी तंत्रिकाएं ग्रंथियों व अन्य अचल अंगों तक आती हैं या मांस-पेशियों को शिथिल करती हैं। अधिकांश तंत्रिकाओं में अंतर्मुखी व बहिर्मुखी दोनों प्रकार के रेशे होते हैं। किन्तु कुछ तंत्रिकाएं ऐसी भी हैं जिनमें मात्र एक ही प्रकार के रेशे होते हैं – जैसे, आंख व कान से आने वाली तंत्रिकाएं। एक बड़ी तंत्रिका में तकरीबन 5 लाख रेशे हो सकते हैं। मसलन आंख से

आने वाली तंत्रिका एक बड़ी तंत्रिका है।

प्रत्येक रेशा नलीनुमा होता है जिसमें चिपचिपा द्रव भरा होता है। यह नली एक कोशिका का हिस्सा होती है। इस कोशिका का केन्द्रक या तो केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र के अंदर स्थित होता है या फिर इससे बाहर एक गेंगलियन में होता है। यदि कोई तंत्रिका कट जाए तो केन्द्रक से अलग हुए रेशे के हिस्से 2-3 दिन में मर जाते हैं। रेशों में जाने वाले संकेत मोर्स कोड के डॉट के समान आवेगों की एक शृंखला के रूप में होते हैं। विभिन्न रेशों में इन आवेगों की गति अलग-अलग होती है; लगभग 400 किलोमीटर प्रति घंटे से लेकर 100 किलोमीटर प्रति घंटे तक। प्रत्येक आवेग रासायनिक आवेशों की एक शृंखला होती है जिसके साथ एक विद्युत आवेश जुड़ा होता है। यह विद्युत लगभग 1/12 वोल्ट की होती है। अलबत्ता इसे एम्पलीफाई (संवर्धित) करके रिकॉर्ड किया जा सकता है।

प्रत्येक तंत्रिका आवेग रेशे की क्षमता के अनुरूप शक्तिशाली होता है। किसी एक रेशे में विभिन्न किस्म के आवेश नहीं होते। न ही वे अलग-अलग रेशों में अलग-अलग होते हैं। किसी रेशे में प्रवाहित आवेगों की एक शृंखला से दृष्टि, स्पर्श, दर्द या कोई अन्य अनुभूति होना उस रेशे के कनेक्शन यानी जुड़ाव पर निर्भर करता है, न कि आवेगों के प्रकार पर।

अंदर की ओर (केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र की ओर) जाने वाला प्रत्येक आवेग किसी-न-किसी ग्राही अंग से शुरू होता है। प्रत्येक ग्राही अंग किसी खास किस्म की भौतिक व रासायनिक प्रक्रिया के प्रति संवेदी होता है, तथा इसमें यह भी गुण होता है कि उस प्रक्रिया को आवर्धित कर सके। किन्तु इन ग्राही अंगों को अन्य क्रियाओं द्वारा भी उत्तेजना प्रदान की जा सकती है। उदाहरण के लिए आंख के पिछले भाग में स्थित रेटिना की कोशिकाएं खासतौर से प्रकाश के प्रति संवेदी होती हैं। आंख की रचना खुद इस तरह की है कि प्रकाश को इन्हीं कोशिकाओं पर केन्द्रित किया जाता है। किन्तु हाथ के हल्के दबाव से भी इन्हें उत्तेजित किया जा सकता है। अत्यंत दुर्बल विद्युत धारा से भी ये उत्तेजित हो जाती हैं।

किसी रेशे के छोर पर स्थित ग्राही अंग को जितनी ज़्यादा उत्तेजना मिलेगी वह उतनी ही जल्दी-जल्दी आवेग भेजेगा (यानी आवेगों की आवृत्ति ज़्यादा होगी)। यह आवृत्ति एक आवेग प्रति सेकण्ड से लेकर 100 आवेग प्रति सेकण्ड तक होती है। किन्तु हम अपने संवेदी अंगों से जितनी भी सूचनाएं प्राप्त करते हैं उन्हें तंत्रिका
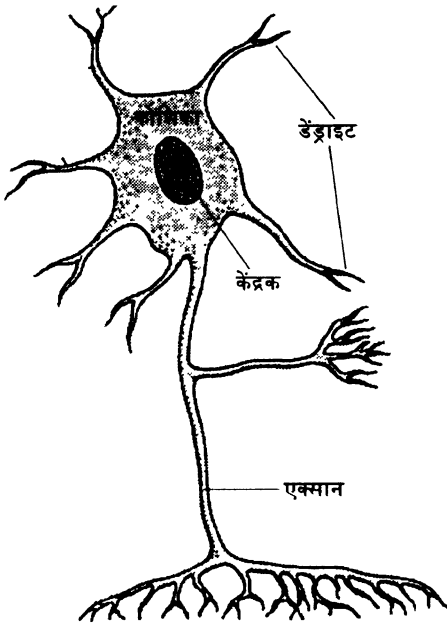
नर्वकोशिका का काम करने का तरीका कुछ इस तरह होता है। कोशिका से जुड़े डेंड्राइट सूचनाओं को ग्रहण करते हैं और कोशिका से जुड़े एक्सान से दूसरी कोशिका तक सूचना को पहुंचाते हैं। इस तरह सूचनाएं आगे बढ़ती हैं।

रेशों में आवेगों की शृंखला के इस स्वरूप से गुज़रना ही होता है। दर्शनशास्त्र के समक्ष एक महत्वपूर्ण समस्या यह है कि यदि ऐसा है तो हम चीज़ों के बारे में कुछ भी कैसे जान पाते हैं।

इसी प्रकार से हम जब किसी भुजा को हिलाते-डुलाते हैं तो इसके लिए संबंधित मांसपेशी तक दसियों हज़ार तंत्रिका रेशों के ज़रिए आवेगों की एक जटिल शृंखला पहुंचती है। प्रत्येक रेशे का संबंध मांसपेशी के एक तंतु से होता है। प्रत्येक आवेग के साथ एसीटाइल कोलीन नामक पदार्थ तंत्रिका रेशे से छूटता है। यह पदार्थ मांसपेशी के तंतु को संकुचित करवाता है।

ग्राही अंगों से आवेगों की एक शृंखला प्रतिक्रिया को जन्म दे सकती है। यह प्रतिक्रिया सांस लेने, हृदय गति बढ़ाने या पसीने की क्रिया शुरू करने जैसी कोई अनैच्छिक क्रिया भी हो सकती है; कोई पूर्णतः कुशल कार्य या वाणी हो सकती है; या कोई बीच की चीज़ हो सकती है जैसे सामान्य चलना।

किन्तु हर मामले में आवेग को केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र से होकर गुज़रना होगा। केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र वास्तव में कई अरब तंत्रिका कोशिकाओं का समूह है। प्रत्येक तंत्रिका कोशिका कई अन्य कोशिकाओं से सूक्ष्म तंत्रिका रेशों द्वारा जुड़ी होती है।

इस तंत्र की पेचीदगी का अनुमान
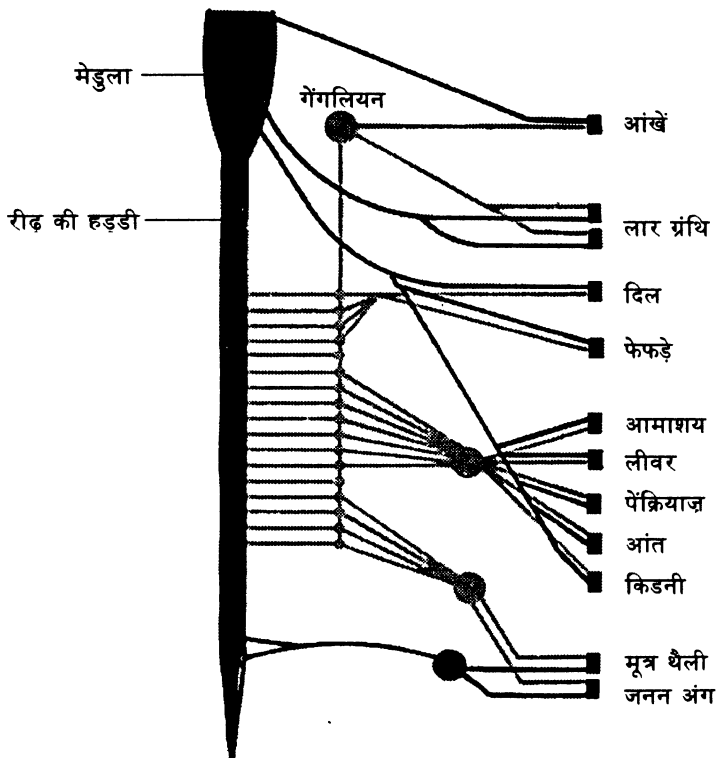
दिमाग, रीढ़ की हड्डी और शरीर के अवयवों से मिलकर बना एक स्वचालित तंत्रिका तंत्र। यहां कुछ तंत्रिकाएं गेंगलियन से जुड़ी हैं तो कुछ रीढ़ की हड्डी से। यह तंत्र शरीर में संतुलन को बनाए रखता है। उदाहरण के लिए हमारा हृदय दो तंत्रिकाओं से जुड़ा है। गेंगलियन से जुड़ी तंत्रिका हृदय की धड़कनों की गति को तेज़ करती है, वहीं रीढ़ की हड्डी से जुड़ी तंत्रिका बढ़ी हुई गति को कम करती है।

हम एक टेलीफोन एक्सचेंज के उदाहरण से लगा सकते हैं। मान लीजिए प्रत्येक इंसान एक ऑपरेटर है जो एक स्विच बोर्ड पर बैठा या बैठी है, जहां से वह चंद अन्य ऑपरेटर्स से संपर्क बना सकता या सकती है। किन्तु संदेश अत्यंत सरल संकेतों के रूप में होगा। बदकिस्मती से हम इन ऑपरेटरों अर्थात् न्यूरॉन को तब ही देख पाते हैं जब ये मर चुके होते हैं। और यद्यपि

हम त्वचा के नीचे उपस्थित न्यूरॉन्स में से एक-एक को अलग-अलग उद्दीप्त कर सकते हैं किन्तु फिलहाल हम इस स्थिति में नहीं हैं कि मस्तिष्क में एक-एक न्यूरॉन के संकेत को अलग-अलग देख सकें। हां, हम कई न्यूरॉन्स के द्वारा उत्पन्न विद्युतीय हलचल को अवश्य देख सकते हैं। हम जानते हैं कि आंख या त्वचा से आने वाली अंतर्मुखी तंत्रिका के सिरे पर कई दसियों लाख ऑपरेटर्स यानी न्यूरॉन्स होते हैं। दूसरी ओर बहिर्मुखी तंत्रिका में थोड़े कम न्यूरॉन्स हैं। इसके अलावा बड़ी संख्या में तंत्रिका तंतु इनके बीच नेटवर्क में होते हैं। एक पूरी सदी में सावधानी पूर्वक किए गए अवलोकनों से हम इन तंत्रिका तंतुओं के संगठन का मात्र एक खाका पता कर पाए हैं।

मसलन मस्तिष्क की चोटों के अध्ययन के आधार पर हम जानते हैं कि संवेदी तंत्रिकाओं से सीधे जुड़े न्यूरॉन्स में चाहे जितनी सक्रियता आ जाए मगर संवेदना उत्पन्न नहीं होती। संवेदना उत्पन्न होने के लिए ज़रूरी है कि ये न्यूरॉन्स कई अन्य न्यूरॉन्स से संपर्क करें, और ये अन्य न्यूरॉन्स इस संदेश को आगे बढ़ाएं। हम यह भी जानते हैं कि तंत्रिका तंत्र के विभिन्न अंग एक-दूसरे के साथ किन नियमों के तहत अंतर्क्रिया करते हैं। इन्हें समझना आसान नहीं है किन्तु इनका अपना एक द्वंद्वात्मक अन्तर्सम्बंध होता है और किसी मार्क्सवादी के लिए इसे समझना आसान होगा।

जे. बी. एस. हाल्डेन: (1892-1964) प्रसिद्ध अनुवांशिकी विज्ञानी। विकास (Evolution) के सिद्धांत को स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान। विख्यात विज्ञान लेखक। उनके निबंधों का एक संकलन 'ऑन बीइंग द राइट साइज़' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत निबंध 'वॉट इज़ लाइफ' नामक संकलन से लिया गया है।

अनुवाद: सुशील जोशी: एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम और स्रोत फीचर सेवा से जुड़े हैं। विज्ञान लेखन एवं अनुवाद भी करते हैं।
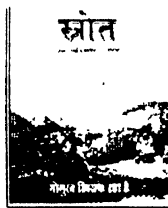
वैनिशिंग क्रीम

इयान मक इवान

उस बड़ी और बिखरी बिखरी-सी रसोई में एक दराज़ थी। हालांकि वहां और भी कई दराज़ थीं लेकिन जब कोई यह कहता कि 'धागा रसोई की दराज़ में है' तो सब समझ जाते कि किस दराज़ की बात की जा रही है। मगर धागे का उस दराज़ में न होना भी लगभग तय था। वैसे बना वो ऐसी ही सब रोज़मर्रा के इस्तेमाल होने वाली चीज़ों के लिए था, जैसे स्क्रूड्राइवर, कैंची, टेप, पिन, पेंसिल वगैरह-वगैरह। लेकिन ये वहां कभी नहीं होती थीं। अगर आपको इनमें से कोई एक चीज़ चाहिए होती तो सबसे पहले आप इस दराज़ में देखते, उसके बाद और कहीं ढूंढते। अब अगर उस दराज़ में ये सारी ज़रूरी चीज़ें नहीं थीं तो उसमें था क्या – यह बा

पाना खासा मुश्किल मसला है – वो तमाम चीज़ें जिनकी कोई तयशुदा जगह नहीं थी, वो तमाम चीज़ें जिन्हें अभी इस्तेमाल नहीं किया जा रहा था लेकिन उन्हें फेंका भी नहीं जा सकता था, या वे चीज़ें जिन्हें किसी दिन ठीक किया जा सकता था जैसे – बैट्रियां जिनमें अभी भी थोड़ी-बहुत जान बची थी, बगैर बोल्ट के नट, महंगी केतली का अभागा हैंडल, बिना चाबी वाला ताला या गोपनीय नंबर वाला ताला जिसका गुप्त नंबर अब सबके लिए गुप्त हो गया था; घिसे-पिटे रंगहीन कंचे; विदेशी सिक्के, बिना बल्ब का टॉर्च; अपनी मौत से पहले दादी द्वारा प्यार से बुने गए दस्ताने का शेष बचा एक नग; गर्म पानी की बोतल का स्टॉपर; एक चटका हुआ जीवाश्म ..... लगता था जैसे कोई जादुई उलट-फेर हुआ हो और हमेशा काम में आने वाली ज़रूरी चीज़ों के लिए बने इस दराज़ में चुन-चुनकर एकदम बेकार या गैरज़रूरी चीज़ों ने जगह पा ली हो। भला आप जिग्सॉ के एक टुकड़े का क्या कर सकते हैं? लेकिन उसे फेंक कर तो देखिए .... हिम्मत नहीं होगी।

फिर भी ऐसा नहीं था कि चीज़ें यहां आ गई तो बस आ ही गईं। मां अक्सर इस दराज़ की सफाई करतीं और तमाम बेकार चीज़ों को कूड़ेदान का रास्ता दिखा आतीं। उसके बाद दराज़ कुछ दिनों के लिए फिर से धागे, टेप, कैंची... से सज जाता। लेकिन कुछ दिनों के लिए ही। कुछ दिनों बाद कबाड़-शबाड़ को फिर से पैठ बनाता देख ये ज़रूरी चीज़ें दराज़ से कूच कर अपना विरोध जता देती थीं।

कभी-कभी बोरियत भरे क्षणों में पीटर इस दराज़ को खोलकर बैठ जाता। इस उम्मीद के साथ कि वहां पड़ी चीज़ों से उसे कोई आइडिया या खेल ही सूझ जाए। लेकिन ऐसा कभी होता नहीं। कोई चीज़ किसी में फिट नहीं होती, किसी का किसी से कोई जुड़ाव नहीं होता। इस दराज़ के बारे में मज़ाक में ऐसा कहा जाता था कि लाखों बंदर, लाखों साल तक इस दराज़ को हिलाते रहें तो मुमकिन है कि ये तमाम चीज़ें मिलकर एक रेडियो बन जाए। लेकिन यह भी एकदम पक्का था कि वो रेडियो बजेगा कभी नहीं और न उसे कभी फेंका जाएगा।

◄◄◄

शनिवार की उस गर्म दोपहरी में पीटर कुछ बनाना चाहता था, कोई खोज करना चाहता था। लेकिन उसे कोई भी काम की चीज़ नहीं मिल रही थी और इस काम में शेष परिवार उसकी कोई मदद नहीं कर सकता था। वे तो बस बाहर घास पर अलसाए से पड़े रहना चाहते थे..... मानो सो रहे हों। पीटर इस सबसे तंग हो चुका
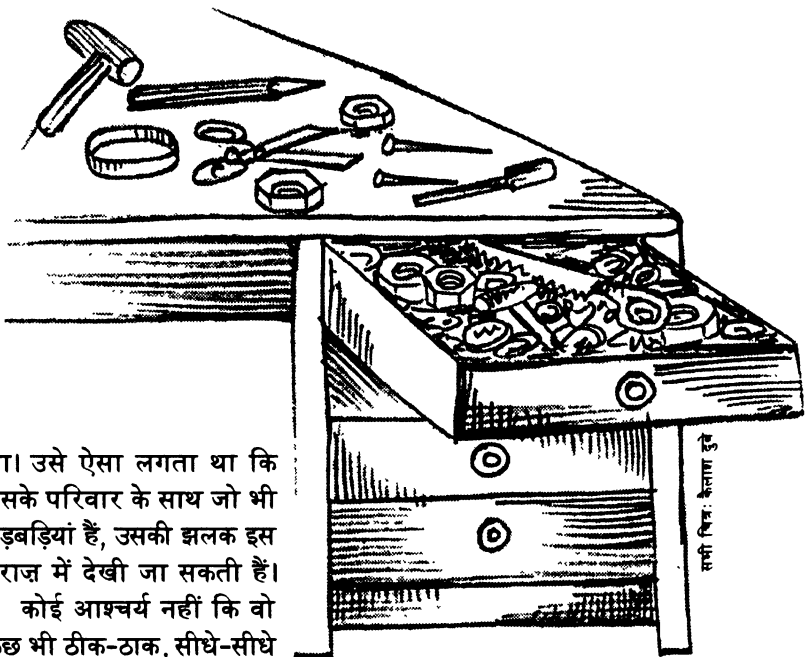
था। उसे ऐसा लगता था कि उसके परिवार के साथ जो भी गड़बड़ियां हैं, उसकी झलक इस दराज़ में देखी जा सकती हैं।

कोई आश्चर्य नहीं कि वो कुछ भी ठीक-ठाक, सीधे-सीधे नहीं सोच पा रहा था। अगर वो अपने आप से जी रहा होता तो उसे मालूम होता कि कहां स्क्रू-ड्राइवर है और कहां धागे रखे हैं। तब उसे यह भी मालूम होता कि वो चाहता क्या है। मगर ऐसे में जब उसके मां-बाप और बहन उस पर अव्यवस्थाओं का पहाड़ लादे रहते हैं तो उससे ऐसी महान खोजों की अपेक्षा कैसे की जा सकती थी जो दुनिया बदल दे।

शनिवार की इस दोपहर को पीटर उस दराज़ के अंधेरे कोनों में गहरे, और गहरे धंसता जा रहा था। उसको एक हुक की तलाश थी, हालांकि उसे मालूम था कि इस दराज़ में उसको पाने की उम्मीद करना बेवकूफी होगी। उसने अपने हाथ को और आगे बढ़ने दिया। उसकी उंगलियां एक छोटे चिपचिपे स्प्रिंग को छू गईं जो शायद पेड़-पौधों की टहनियों को काटने वाले कटर से अलग हुआ था। उसके पीछे थे बीजों के कुछ पैकेट जिसके बीज बोने के लिहाज़ से काफी पुराने हो चुके थे, मगर इतने पुराने नहीं कि फेंक दिए जाएं।

दराज़ के पीछे, एकदम पीछे हाथ

बढ़ाते हुए पीटर सोचने लगा — क्या परिवार है उसका! क्यों हम और लोगों जैसे न हुए, जिनके घर की हर चीज़ में बैटरी होती है; जिनके खिलौने चलते हैं; जिनके यहां जिग्सॉ के सभी टुकड़े और ताश के सभी बावन पत्ते एक साथ होते हैं और सभी चीज़ें अलमारी में करीने से रखी होती हैं। अचानक उसने अपनी मुट्ठी में कोई ठण्डी-सी चीज़ महसूस की। हाथ बाहर निकाला तो देखा एक छोटी-सी गहरे नीले रंग की शीशी थी जिस पर काला ढक्कन था। उस पर चिपकी सफेद पर्ची पर लिखा था 'वैनिशिंग क्रीम'। उसकी आंखें देर तक उन शब्दों पर चिपकी रहीं, उसका अर्थ सोचती, खोजती रहीं।

शीशी में सफेद गाढ़ी क्रीम थी। एकदम ऊपर तक भरी हुई यानी उसे आज तक एक बार भी इस्तेमाल नहीं किया गया था। उसने अपनी तर्जनी के सिरे को उसमें घोंप दिया। क्रीम ठण्डी थी लेकिन बर्फ सरीखी ठण्डी नहीं, बल्कि मुलायम गुदगुदाहट भरी ठण्डक। उसने अपनी उंगली बाहर निकाली और अचरज से कराह उठा। उसकी उंगली का सिरा गायब था। पूरी तरह नदारद। उसने उस शीशी के ढक्कन की चूड़ियां कसीं और झटपट ऊपर अपने कमरे की ओर दौड़ पड़ा। आले में उस शीशी को रखकर उसने कपड़ों और खिलौनों को एक तरफ फेंका ताकि कुछ देर बिस्तर से पीठ टिका कर ज़मीन पर बैठ सके। वो सोचना चाहता था।

सबसे पहले उसने अपनी उंगली को देखा-परखा। वो लगभग अंगूठे जितनी हो गई थी। उसने उस खाली जगह को भी महसूस किया जहां उसकी बाकी की उंगली होनी चाहिए थी। वो सिरा पूरी तरह से गायब हो चुका था।

लगभग आधे घण्टे

के शांत मनन के बाद पीटर ने खिड़की से बाहर झांका। यहां से घर के पीछे का बगीचा दिखाई देता था। लॉन, रसोई की दराज़ का आउटडोर संस्करण लग रहा था। वहां उसके मां-पिताजी औंधे लेटे थे, अधजगे-अधसोए, धूप सेंकते। बीच में थी उसकी बहन केट जिसके लिए धूप सेंकना बड़े होने की निशानी थी। उन तीनों के आसपास बिखरा था शनिवार दोपहर का कचरा – चाय की प्यालियां, केतली, अखबार, अधखाए सैंडविच, संतरे के छिलके....। उसने अपने परिवार पर एक गुस्से से भरी निगाह डाली। इन लोगों का आप कुछ नहीं कर सकते, लेकिन अफसोस कि आप उन्हें फेंक भी नहीं सकते।

या फिर, ठीक है, शायद उसने एक गहरी सांस ली। फिर उस छोटी-सी नीली शीशी को जेब में रखा और सीढ़ियां उतरने लगा।

बाहर लॉन में आकर वह मां के बगल में घुटने टेककर बैठ गया। मां अलसाए अंदाज़ में कुछ बुदबुदाई। "आपको तेज़ धूप में नहीं लेटना चाहिए, मां। आपकी चमड़ी जल सकती है। क्या मैं आपकी पीठ पर थोड़ी-सी क्रीम लगा दूं?" पीटर ने हौले से, प्यार भरे लहज़े में पूछा।

मां कुछ बुदबुदाई जो 'हां' जैसा कुछ था।

पीटर ने जेब से शीशी निकाली। गायब हुई उंगली से ढक्कन खोलना थोड़ा मुश्किल था। रसोई पास से गुज़रते वक्त उसने दस्ताना उठा लिया था जिसे उंगली कटे हाथ पर चढ़ा लिया। उसकी मां की सफेद पीठ सूरज की रोशनी में चमक रही थी। माहौल बिल्कुल उसके अनुकूल था।

पीटर के मन में इसे लेकर कोई संशय नहीं था कि वो अपनी मां को बहुत चाहता था और यह भी कि मां भी उसे बहुत प्यार करती थीं। उन्होंने उसे टॉफी बनाना सिखाया, उसे पढ़ना-लिखना सिखाया। एक दफा वो हवाई जहाज़ से पैराशूट लगाकर कूद पड़ी थीं। जब वो बीमार पड़ता था तो वो उसकी देखभाल करती थीं। उसकी नज़र में वो अकेली ऐसी मां थीं जो अपने सर के बल बगैर किसी सहायता के खड़ी हो सकती थीं। लेकिन पीटर ने फैसला कर लिया था – उसकी मां को जाना ही होगा। उसने दस्ताने वाली अंगुली को शीशी के अंदर गोल घुमाया और ढेर सारी क्रीम बाहर निकाल ली। दस्ताना गायब नहीं हुआ यानी जादू केवल सजीव चीज़ों पर ही चलता था। उसने क्रीम के उस लोंदे को मां की पीठ पर ठीक बीचों-बीच गिरने दिया। आह! मां ने धीमे से ठण्डी सी कराह भरी; आवाज़ में नाराज़गी कतई न थी।

पीटर ने क्रीम को पीठ पर फैलाना शुरू किया; और उसकी मां एकदम से गायब होने लगी। बीच में एक नागवार

पल तब आया जब उनका सिर और पांव तो घास पर ही थे लेकिन बीच का भाग पूरा गायब हो चुका था। उसने एक और उंगली भर क्रीम ली और मां के सिर और टखने पर भी फटाफट पोत दी।

अब वो गायब हो चुकी थीं। वो जगह जहां मां लेटी थीं, सपाट थी; यहां तक कि रोएं सरीखी घास भी खड़ी होने लगी थी।

उसके बाद पीटर वो नीली शीशी लिए अपने पिता के पास गया और हौले से बोला, "लगता है आपकी पीठ जलने लगी है। क्या मैं इस पर क्रीम लगा दूं?" बिना आंखें खोले पिता बोले "नहीं"।

लेकिन तब तक पीटर क्रीम का एक अच्छा खासा बड़ा लौंदा निकालकर पिता के कंधों पर फेरने लगा था। मां के बाद इस पूरी दुनिया में अगर पीटर किसी को चाहता था तो वो थे उसके पिता। और यह बात भी सूरज की चमकती रोशनी की तरह साफ थी कि उसके पिता भी उसे उतना ही प्यार करते थे। उन्होंने अभी भी अपने गैराज में 500 सी.सी. की एक मोटर-साइकिल रखी थी जिस पर वे पीटर को घुमाया करते थे। यह मोटर साइकिल भी एक चीज़ थी जिसे फेंका नहीं जा सकता था। उन्होंने पीटर को सीटी बजाना सिखाया था, उसे एक खास तरह से जूतों की लेस बांधना सिखाया और यह भी सिखाया कि किसी को अपने सर के उपर से उठा कर ज़मीन पर कैसे पटका जाता है।

लेकिन पीटर अपने पिता को गायब करने का निर्णय ले चुका था। इस बार उसने एक मिनट से भी कम समय में क्रीम को सिर से पैर तक पोत दिया। कुछ देर बाद घास पर पिताजी का पढ़ने वाला चश्मा ही बच गया था।

अब केवल केट बची थी। गायब हो चुके माता-पिता के बीच वो सुकून से औंधी पड़ी थी। पीटर ने शीशी में देखा। अभी भी एक छोटे बच्चे को गायब कर पाने जितनी क्रीम बची हुई थी। उसे यह बात स्वीकारने में थोड़ा वक्त लगता कि वो अपनी बहन को प्यार करता था। लेकिन अब बहन है तो है ही, आप चाहो या न चाहो। फिर भी जब वो अच्छे मूड में होती तो उसके साथ खेलने में बहुत मज़ा आता था; और उस पर उसका चेहरा ऐसा था कि बस उससे बातें करना अच्छा लगता था। और शायद यह सच था कि वो उसे दिल से प्यार करता था और वो भी उसे चाहती थी। लेकिन बावजूद इसके वो मन बना चुका था और अब केट को भी जाना ही था।

वो जानता था कि केट से यह पूछना बेवकूफी होगी कि क्या वो अपनी पीठ पर क्रीम लगवाना चाहती है। वो

तुरंत ही समझ जाती कि कुछ गड़बड़ है। बड़ों की बनिस्बत बच्चों को झांसा देना ज़्यादा मुश्किल होता है। उसने शीशी के पेंदे में अपनी उंगली फेरी, क्रीम निकाली और केट की पीठ पर उसे लगाने ही वाला था कि केट ने अपनी आंखें खोल दीं। उसकी निगाह पीटर के दस्ताने वाले हाथ पर पड़ी। "ये क्या कर रहे हो तुम.... !" वो चीखी। पीटर के हाथ को झटकती हुई वो तेज़ी से उछली तो उसकी पीठ पर लगने को तैयार क्रीम छिटककर उसके सिर पर जा गिरी। वो खड़ी हो गई और अपने सिर पर लगी क्रीम को हाथ से पोंछने लगी। "मां.... पिताजी.... उसने मेरे ऊपर कीचड़ डाल दिया है" उसने रोना-पीटना मचा दिया।

"ओ नहीं!" पीटर बोला। केट का सिर और हाथ दोनों गायब हो रहे थे। और अब वो पूरे बगीचे में अपनी छोटी हो चुकी बाहों को हवा में लहराते हुए गोल-गोल भाग रही थी – सिर कटी मुर्गी की तरह।

अगर उसके पास मुंह होता तो ज़रूर वो चीख भी रही होती। "ओह यह तो बुरा हुआ!" पीटर बोला और उसके पीछे भागा। "केट, सुनो . . . रुको . . . ।" लेकिन केट के कान कहां थे। वो भागती रही... गोल-गोल..., जब तक कि वो बगीचे की दीवार से टकराकर पीटर की बाहों में गिर न

गई। वाह, क्या परिवार है! पीटर बची-खुची वैनिशिंग क्रीम को केट पर मलते हुए सोच रहा था।

अंततः जब केट भी गायब हो गयी तो कितना सुकुन मिला बयान नहीं किया जा सकता। अब बाग में चारों तरफ शांति थी।

<<<

सबसे पहले वो उस जगह को साफ सुथरा देखना चाहता था। उसने इधर-उधर फैला कबाड़ इकट्ठा किया और कूड़ेदान में डाल दिया – केतली, कप और बाकी का सब सामान भी। इससे वह उनकी सफाई करने से भी बच गया। अब से घर बढ़िया तरह से चलेगा। उसने एक बड़ी सी पॉलिथीन ली और अपने सोने के कमरे में गया। वहां बाहर पड़ी तमाम चीज़ें उसने उस पॉलिथीन में डाल दीं। जो कुछ भी उसे इधर-उधर बिखरा पड़ा मिला उसने उसे कचरा करार दिया और पॉलिथीन में भरता गया – ज़मीन पर पड़े कपड़े, बिस्तर पर बिखरे खिलौने, जूतों की एक अतिरिक्त जोड़ी। उसने घर में गश्त लगाई और गंदे दिखने वाले सभी सामानों को इकट्ठा करता रहा। अपनी बहन और मां-बाप के कमरों की सफाई की परेशानी से बचने के लिए उसने उन कमरों को बाहर से बन्द कर दिया। लेकिन बैठक की अच्छी सफाई हुई। दीवार पर लगी फोटो, आले में रखी किताबें, सजावट का सामान, कुशन, आदि सभी चीज़ें पॉलिथीन बैगों में जाती रहीं।

अब रसोई की बारी थी। पहले प्लेट्स, फिर पाकशास्त्र की किताबें, फिर अचारों की बर्नियां सभी पॉलिथीन बैग में समा गए। दोपहर बाद जब उसका काम खत्म हुआ तो कूड़ेदान के पास ग्यारह पॉलिथीन बैग लाइन में लगे थे।

इतने काम के बाद उसने अपने लिए खाना बनाया – चीनी वाला सैंडविच। खाने के बाद प्लेट चम्मच भी कचरे में फेंक दिए गए। फिर उसने पूरे घर का एक चक्कर लगाया और हर खाली कमरे को प्रशंसा भरी निगाह से देखा। अब कम-से-कम वो सीधे-सीधे सोच तो पाएगा।

कम से कम वो अपनी ईजाद का काम तो शुरू कर पाएगा – बस एक कागज़ और पेंसिल मिलने की देर थी। लेकिन समस्या यह थी कि पेंसिल वगैरह जैसी इधर-उधर बिखरी रहने वाली तमाम चीज़ें उन ग्यारह में से किसी एक बैग में होंगी। 'कोई बात नहीं', उसने सोचा। चलो इस कठिन काम से पहले कुछ पल टी.वी. के सामने गुज़ारे जाएं। ऐसा नहीं था कि पीटर के घर में टी.वी. देखने की मनाही थी, पर हां, उसे प्रोत्साहित भी नहीं किया जाता था। हर रोज़ एक घण्टे के

उस रात उसने टी.वी. देखने का अपना सप्ताह भर का कोटा पूरा कर लिया। रात के करीब एक बजे वो लड़खड़ाते हुए खड़ा हुआ और अंधेरे में रास्ता ढूंढना शुरू किया। लड़खड़ाते कदमों पर टिकी उसकी लड़खड़ाती आवाज़ निकली, "मां, मैं बीमार पड़ने वाला हूं।" पेट दबाकर वो शौचालय गया, कुछ देर इंतज़ार में बैठा रहा लेकिन कोई राहत नहीं मिली। तभी ऊपर से एक अजीब-सी आवाज़ आई जिसे बयान नहीं किया जा सकता था – कर्कश, डोलते, पच्च-पच्च करते कदमों की आहट थी जैसे एक लिजलिजा प्राणी हरी जेली के विशाल लोंदे के आसपास चहलकदमी कर रहा हो। पीटर की बीमारी एकदम से गायब हो गई, उसकी जगह डर समा गया।

वो सीढ़ी के पास जाकर खड़ा हुआ। बत्ती जलाई और पुकारा 'पापा' लेकिन जवाब नदारद।

नीचे सोने की कोशिश करने का कोई फायदा नहीं था, यहां कम्बल भी नहीं थे और सारे कुशन तो पहले ही फेंके जा चुके थे। वो धीरे-धीरे सीढ़ियां चढ़ने लगा। उसके कदमों की चरमराहट

हिसाब से टी.वी. की खुराक मिलती थी। उस परिवार में बड़ों की यह मान्यता थी कि इससे ज़्यादा टी.वी. दिमाग खराब कर देता है। लेकिन अपनी इस दलील की पुष्टि के लिए वे कोई चिकित्सकीय प्रमाण नहीं देते थे। शाम के करीब छह बजे पीटर कोल्डड्रिंक की एक बड़ी बोतल, एक किलो टॉफी और एक स्पंज केक लेकर टी.वी. के सामने आरामकुर्सी पर जा विराजा।

उसके वहां होने का राज़ खोल रही थी। दिल की धड़कन कानों में बज रही थी। अचानक लगा कि उसने वो आवाज़ फिर से सुनी, लेकिन पक्के तौर पर नहीं कहा जा सकता था। वो सांस रोके चुपचाप खड़ा हो गया। लेकिन उसे अपने दिल की धड़कन के अलावा कुछ भी सुनाई नहीं दिया। किसी तरह तीन सीढ़ियां और चढ़ीं। क्या पता केट अपने कमरे में गुड़ियों से बातें कर रही हो। ऊपरी मंज़िल अब सिर्फ चार सीढ़ी दूर थी और वहां से उसके कमरे का दरवाज़ा सिर्फ चार छलांग के फासले पर था। उसने तीन तक गिना और तेज़ी से अपने कमरे की ओर दौड़ गया। अंदर पहुंचकर उसने तेज़ी से दरवाज़ा भिड़ाया, कुंडी लगाई और उससे पीठ टिकाकर खड़ा हो गया, इंतज़ार में।

वो सुरक्षित था। मगर उसका कमरा खाली और डरावना लग रहा था। वो कपड़े और जूते समेत बिस्तर में घुस गया; इस बात के लिए तैयार कि इधर वो दानव घुसा कि इधर मैं खिड़की से बाहर कूदा। उस रात पीटर सो नहीं पाया। वो बस भागता रहा। इस सपने से उस सपने में, गूंजते विशाल गलियारों में, पत्थरों और बिच्छुओं के रेगिस्तान में, बर्फ से ढकी ढलानों में, एक टपकती दीवारों वाली गुलाबी मुलायम ढलवां सुरंग में और यही वो वक्त था जब उसे अहसास हुआ कि कोई दानव उसका पीछा नहीं कर रहा है।

वो झटके से उठ बैठा। बाहर रोशनी थी, शायद सुबह हुए देर हो चुकी थी या फिर दोपहर होने में अभी कुछ ही देर बाकी थी। पता नहीं। उसने कुण्डी खोली और सिर निकाल कर बाहर झांका। शान्त, और खालीपन के अहसास ने उसका स्वागत किया। उसने अपने कमरे के पर्दे खींच लिए – रोशनी अंदर लुढ़क आई जिससे कुछ हिम्मत बंधी। बाहर चिड़ियों के सुरीले स्वर थे, गाड़ियों की चिल्लपों थी, घास काटने वाली मशीन की गड़गड़ाहट थी, लेकिन रात के समय राक्षस का फिर से आना लगभग तय था। सो ज़रूरत थी एक ऐसे हथियार की जिसकी सहायता से उस राक्षस को धोखे से मारा जा सके।

इसके लिए ज़रूरत थी– बीस ड्रॉइंग पिन, एक टॉर्च, खंभे से बंधी रस्सी के सिरे पर टांगने के लिए कुछ भारी चीज़ आदि की।

यह सोचते हुए वह सीढ़ियां उतर कर नीचे रसोई तक आया। उसने दराज़ खोली। आधे जल चुके मोमबत्ती के एक पैकेट को इधर-उधर सरका ही रहा था कि अचानक उसकी निगाह अपनी उंगली पर गई। वो पूरी की पूरी थी। क्या वो फिर से उग आई? क्रीम का असर खत्म हो चुका था।

इसका मतलब यह कि .... वो आगे कुछ सोचता उससे पहले उसने अपने कंधे पर किसी का हाथ महसूस किया।

राक्षस?

नहीं यह तो केट थी – पूरी, सिर से पांव तक पूरी केट!

"खुदा का शुक्र है तुम यहां हो।" पीटर बुदबुदाया, "मुझे तुम्हारी मदद चाहिए। देखो मैं एक हथियार बना रहा हूं। इसके लिए मुझे ...." लेकिन केट ने उसकी एक न सुनी और उसकी बांह खींचती रही, "हम कब से तुम्हें आवाज़ दे रहे हैं। जाने कितनी देर से तुम खड़े-खड़े दराज़ को घूर रहे हो। आओ . . . . आओ देखो हम क्या कर रहे हैं। पापा को एक पुरानी घास काटने की मशीन का इंजिन मिला है और हम उससे होवर-क्राफ्ट बना रहे हैं।"

होवर-क्राफ्ट!!

पीटर बाहर की ओर लपका। वहां सब कुछ पहले जैसा था – कप, संतरे के छिलके, अखबार..... और उसके मां-बाप। "इधर आओ. . ." मां बोली, ". . . आकर हाथ तो बटाओ।" पापा हाथ में स्पैनर लिए बोले, "हो सकता है तुम्हारा हाथ लगने से यह काम कर जाए।" अपने कुत्ते की तरफ दौड़ता हुआ पीटर सोचने लगा – यह कौन-सा दिन है। क्या अभी भी शनिवार ही चल रहा है? ऊंह! जाने भी दो, क्या फर्क पड़ता है।

मूल लेखक: इयान मेक इवान: अंग्रेज़ी साहित्य में अपनी कहानियों के लिए जाने जाते हैं। कुछ उपन्यास भी लिखे हैं।

अनुवाद: शशि सबलोक: एकलव्य द्वारा प्रकाशित 'स्रोत फीचर सेवा' से संबद्ध। अनुवाद में रुचि।

यह कहानी 'डे ड्रीमर' किताब से साभार। प्रकाशक: विन्टेज पब्लिशर्स, लंदन।

***सभी चित्र: कैलाश दुबे:** कैलाश स्वतंत्र रूप से चित्रकारी करते हैं। भोपाल में रहते हैं।*

संदर्भ मराठी और गुजराती में
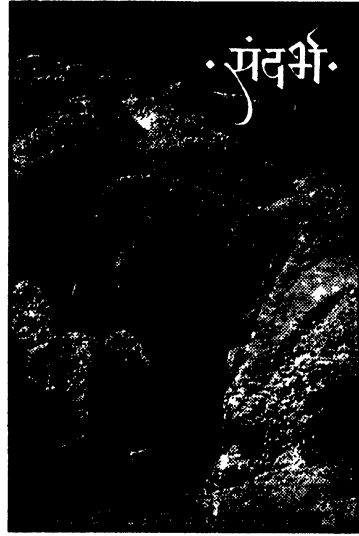
मराठी संदर्भ की सदस्यता दरें इस प्रकार हैं
एक प्रतिः 20 रुपए
वार्षिक सदस्यता शुल्कः 125 रुपए

गुजराती संदर्भ का नमूना अंक प्रकाशित हो चुका है।
वार्षिक सदस्यता शुल्कः 150 रुपए

सदस्यता शुल्क बैंक ड्राफ्ट या मनीऑर्डर से भेज सकते हैं।

अधिक जानकारी के लिए संपर्क करें।

नचिकेता ट्रस्ट
21 महालक्ष्मी सोसायटी
धरमपुर, ज़िला वलसाड
गुजरात 396050

संदर्भ, द्वारा पालकनीती
अमृता क्लिनिक, संभाजी पुल कोपरा
कर्वे रोड़, पुणे, पिनः 411004
फोनः 5441230

वर्ष-7 अंक 37-42

शैक्षिक संदर्भ

अंक: 37, अप्रैल-मई 2001

अंक: 38, जून-जुलाई 2001

अंक: 39, अगस्त-सितंबर, 2001

अंक:40, अक्टूबर 2001-जनवरी 2002

अंक: 41, फरवरी-मई 2002

अंक: 42 जून-जुलाई 2002

इंडेक्स देखने का तरीका: छह अंकों में प्रकाशित सामग्री का विषय आधारित वर्गीकरण किया गया है। कई लेखों में एक से ज़्यादा मुद्दे शामिल हैं इसलिए वे लेख एक से ज़्यादा स्थान पर रखे गए हैं। लेख के शीर्षक और लेखक के नाम के साथ पहले बोल्ड में उस अंक का क्रमांक है जिसमें वह लेख प्रकाशित हुआ है। फुलस्टाप के बाद उस लेख का पृष्ठ क्रमांक दिया गया है। उदाहरण के लिए लेख 'ज्वार एवं भाटा' अंक 41, पृष्ठ क्रमांक 17 पर।

भौतिकी (Physics)

रसायन शास्त्र (Chemistry)

विकास (Evolution)

जंतु व्यवहार (Animal Behaviour)

भूगोल, भूविज्ञान, खगोल विज्ञान (Geography/Geology/Astronomy)

गणित (Mathemitcs)

इतिहास (History)

विज्ञान एवं तकनीकों का इतिहास

बच्चों, शिक्षकों के साथ अनुभव

जीवनी/संस्मरण/प्रसंग

पुस्तक अंश/पुस्तक समीक्षा/व्याख्यान अश

कहानी (Story)

■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■

दिखता है फल जैसा लेकिन...

के. आर. शर्मा

यकीन कीजिए, यह फल नहीं है बल्कि यह किसी कीट का ककून है। ककून यानी शंखी। कीटों के जीवन चक्र की वह अवस्था जिसमें इल्ली (लार्वा) एक खोल में बंद हो जाती है। यह तो आप जानते ही हैं कि कई कीटों में कायान्तरण होता है। ऐसे कीटों में वयस्क मादा अण्डे देती है और उनमें से जो बच्चे निकलते हैं वे अपने माता-पिता से काफी भिन्न होते हैं। उनका आकार तो फर्क होता ही है, रहवास और भोजन भी अलग होता है। मेंढक के जीवन चक्र के बारे में आपने पढ़ा ही होगा कि टेडपोल शाकाहारी होता है जबकि वयस्क मेंढक मांसाहारी।

दरअसल पिछले दिनों जब मैं अपने मित्रों के साथ सुबह-सुबह सैर पर निकला तो एक पहाड़ी पर कंटीली झाड़ियों में कुछ फल जैसा लटका हुआ था। मेरे एक मित्र ने उसे हाथ में लेकर कहा, "ये तो कोई फल है, इसमें डंठल भी है और इसे हिलाओ तो वैसी ही आवाज़ आती है जैसी सूखे नारियल या किसी अन्य सूखे फल को हिलाने पर आती है।" मेरे मित्र की बातें सुनकर सभी को विश्वास हो गया कि यह तो कोई फल ही होगा। जब मैंने इसके डंठल को थोड़ा पास से देखा तो थोड़ा शक हुआ क्योंकि डंठल शाखा पर छल्ले की तरह लिपटा हुआ था। इस फलनुमा रचना को भी बारीकी से देखा तो पाया कि इस पर रेशम के रेशे निकलते दिख रहे हैं। इस सबसे इतना तो पक्का हो ही गया कि यह वास्तव में फल नहीं है। जब फलनुमा आकार को खोला तो इसमें जीवन हिलता-डुलता दिखाई दिया।

जब इसके बारे में पता किया तो पाया कि यह किसी पतिंगे का प्यूपा है। इसका नाम है टसर सिल्क मॉथ। टसर सिल्क मॉथ ज़्यादातर कंटीली झाड़ियों या पेड़ों पर अंडे देती है। अंडों से इल्लियां निकलती हैं जो इन्हीं पेड़-पौधों की पत्तियों को खाकर पनपती हैं। और ये इल्लियां फिर ककून में बदल जाती हैं। प्यूपा यानी ये ककून हुबहू इन्हीं पौधों के फलों से मिलता-जुलता होता है। कुछ दिनों बाद इस ककून में से एक खूबसूरत पतिंगा बाहर निकल कर उड़ जाता है।

आलेख एवं फोटोग्राफ: के. आर. शर्मा: एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम से संबद्ध।

कायांतरण के संबंध में और विस्तार से जानने के लिए संदर्भ के अंक 24–25 में प्रकाशित लेख 'कायांतरण' देखिए।

सामने वाले पृष्ठ पर ऊपरः टहनी से लटका हुआ ककून है। →
नीचेः फलनुमा खोल खुला हुआ है जिसमें जीव दिखाई दे रहा है।

डाली से लटका हुआ ककून

हाथ में खुला हुआ ककून